चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित '**श्रेयस्करी**' व्याख्यासहित

(समग्र शाङ्कर प्रस्थानभाष्य के आधारमात्र से किया हुआ अध्यासभाष्य और चतुःसूत्री व्याख्यान)

Maha Parivrajaka

॥ श्रीः ॥
चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
517

चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित '**श्रेयस्करी**' व्याख्यासहित

(समग्र शाङ्कर प्रस्थानभाष्य के आधारमात्र से किया हुआ
अध्यासभाष्य और चतुःसूत्री व्याख्यान)

व्याख्याकारः

परम पूज्य स्वामी परमानन्द भारती जी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

Maha Parivrajaka

© **सर्वाधिकार सुरक्षित।** इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण या किसी भी विधि (जैसे- इलेक्ट्रोनिक, यांत्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यंत्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्-चतुःसूत्री

ISBN : 978-93-80326-84-9

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001
दूरभाष : 2335263
URL : www.exoticindia.com
email : csp_naveen@yahoo.co.in

© **सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन**

प्रथम संस्करण 2011
तृतीय संशोधित संस्करण 2016
₹ 250

वितरक

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस

4697/2, भू-तल (ग्राउण्ड फ्लोर)
गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002
दूरभाष : 23286537
Email : chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ोदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113, दिल्ली 110007

मुद्रक
डीलक्स ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

Maha Parivrajaka

समर्पण

ग्रंथरचना के समय संदर्भानुसार भाष्यवाक्यों की स्मृति को
जो पैदा करता था उस सर्वहृदय सन्निविष्ट
वेदवेद्य वेदान्तसंप्रदायकर्त्ता भगवान्
श्रीकृष्ण परमात्मा
के
कमलचरणों में समर्पित।

Maha Parivrajaka

प्रकाशकीय

भगवान शंकराचार्यजी द्वारा रचित ब्रह्मसूत्रों के उपोद्घात और प्रथम चार सूत्रों का भाष्य–इन पर अनेक व्याख्यान उपलब्ध हैं। प्रस्तुत ग्रंथ भी एक व्याख्यान ही है, परन्तु इस ग्रंथ की विशेषता यह है:–

यह व्याख्यान मान कर चलता है कि सिद्धान्त को भली–भान्ति ग्रहण कराने के लिये शांकरभाष्य अपने–आप में परिपूर्ण है। जहाँ कहीं अस्पष्टता हो तो स्पष्टता के लिये उसी विषय को भाष्य में ही कहीं और ढूंढना चाहिये, न कि अपनी कल्पनायें जोड़ कर अपना वाञ्छित अर्थ निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। जब शांकर सिद्धान्त के विषय में सब संशय–जो कि निस्संदेह बहुत हैं–निवृत्त हो जायेंगे, तो हमें विश्वास है कि उसके अध्ययन से आप अत्यधिक आनन्द प्राप्त करेंगे।

पूज्य स्वामीजी की दो पुस्तकों 'धर्म के आधार' और 'वेदान्त प्रबोध' को प्रकाशित करने का सौभाग्य हमें पहले ही प्राप्त हो चुका है। इसके लिये हम पूज्य स्वामीजी के अत्यन्त आभारी हैं। आशा है कि हम भविष्य में भी उनकी कृपादृष्टि के पात्र बने रहेंगे।

हम पुनः पूज्य स्वामीजी के चरण–कमलों में अपनी श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हैं।

•

Maha Parivrajaka

श्री श्री जगदगुरु शङ्कराचार्य महासंस्थानम् ,
दक्षिणाम्नाय श्री शारदापीठम् , शृङ्गेरी
Sri Sri Jagadguru Shankaracharya Mahasamstanam
Dakshinamnaya Sri Sharada Peetham, Sringeri - 577 139.

Ref : Camp : SRINGERI Date :

दक्षिणाम्नायशृङ्गेरीशारदापीठाधीश्वराणां जगद्गुरुशङ्कराचार्याणां

अनन्तश्रीविभूषितानां **श्रीश्रीभारतीतीर्थमहास्वामिनां सन्देशः ॥**

परशिवावतारभूतैः श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यैः विरचितेषु ग्रन्थतल्लजेषु ब्रह्मसूत्रभाष्यं सर्वोत्कृष्टतया विराजते । भगवता बादरायणेन विरचितायाः चतुर्लक्षण्याः शारीरकमीमांसाया यथावदर्थाववोधकं भाष्यमिदमासेतोरातुषाराद्रेस्सर्वैरप्यास्तिकैः सभक्ति समादृतं चकास्ति । भगवत्पादसाक्षाच्छिष्यान् पद्मपादाचार्यानारभ्य बहवो विद्वत्तल्लजाः भाष्यमिदं व्याख्याय आत्मानं अन्यांश्च धन्यान् व्यधासिषुः। भाष्यस्यास्य मननेन वेदान्तसिद्धान्तः स्फुटतरमवबोद्धुं पार्यते ।

परमहंसाः श्रीपरमानन्दभारतीस्वामिनः सूत्रभाष्यं स्वबुद्धिविभवानुसारमनुशीलयन्तः भाष्यस्य चतुस्सूत्र्याः विवरणं कृतवन्तः। तदिदं वयमवालोकयाम । स्वामिनां भगवत्पादेषु असाधारणी भक्तिः। सैव हि भवार्णवतरणे नौका । श्रीशारदाचन्द्रमौलीश्वरयोरसीमया कृपया स्वामिन इमे इत्थमेव भगवत्पादोपदिष्टसिद्धान्तचिन्तनपराः स्वं जनुः सार्थकयन्त्वित्याशास्महे ।

शृङ्गगिरिः इति नारायणस्मरणम्

विजयवत्सरीयाश्वयुजकृष्णपञ्चमी

गुरुवासरः – 24.10.2013

Phone : 08265-250123 / 250192 Fax : 08265-250792
E-mail : info@sringerisharadapeetham.org Vist us : www.sringerisharadapeetham.org

Mahaperiyavaa (watermark)

दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरीशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्री श्री भारती तीर्थ महास्वामी जी का दिव्य सन्देश

परमशिव के अवतार श्री शंकर भगवत्पादाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में उनका ब्रह्मसूत्रभाष्य सर्वोत्कृष्ट है। भगवान् बादरायण द्वारा विरचित चतुर्लक्षणी शारीरकमीमांसा का यथार्थावबोधन कराने वाला यह भाष्य रामेश्वरम् से लेकर हिमालय तक सभी आस्तिकों द्वारा भक्तिपूर्वक समादृत है। भगवत्पाद के साक्षात् शिष्य पद्मपादाचार्य से लेकर कई श्रेष्ठ विद्वानों ने इस भाष्य की व्याख्या करके अपने को और औरों को धन्य किया है। इस भाष्य के मनन से वेदान्तसिद्धान्त स्पष्ट रूप से समझ आ सकता है।

परमहंस श्री परमानन्द भारती स्वामी ने अपनी विद्वतानुसार भाष्य का अनुशीलन करते हुये चतुःसूत्री का विवरण किया है। इसका हमने अवलोकन किया है। स्वामी जी की भगवत्पाद में असाधारण भक्ति है। वह ही भवसागर को पार करने के लिये नौका है। हम प्रार्थना करते हैं कि शारदा देवी और भगवान् चन्द्रमौली की असीम कृपा से स्वामी जी को भगवत्पाद द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त के चिन्तन में तत्पर रहते हुये अपने जीवन की सार्थकता मिले।

Maha Parivrajaka

विषय सूची

•

Maha Parivrajaka

चतुःसूत्री

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य

भाष्यानुवादसहित '**श्रेयस्करी**' व्याख्यासहित

Maha Parivrajaka

करुणामय ईश्वर ने सभी प्राणियों को तीन अवस्थाएँ प्रदान की हैं–जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। जाग्रत् अवस्था में जीव बाह्य विषयों की प्रज्ञा (ज्ञान) प्राप्त करता है इसलिये उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं। विषयों के साथ इस व्यवहार को करते हुये जब वह थक जाता है तब जीव निद्रा के लिये जाता है। जब शरीर और इन्द्रियाँ उससे अपना सम्बन्ध छोड़ देती हैं तो वह स्वप्नावस्था का अनुभव करता है। जाग्रत् में अनुभव की गयी विभिन्न पदार्थों की वासनाएँ ही स्वप्न में विषयों का काम करती हैं। चूंकि ये वासनाएँ अन्दर ही अनुभव की जाती हैं, इसलिये स्वप्नावस्था में जीव को अन्त:प्रज्ञ कहते हैं। जाग्रत् में जीव को विषयों की प्रज्ञा ब्राह्य प्रकाश की सहायता से होती है किन्तु स्वप्न का प्रकाश आन्तरिक है। इस प्रकार, स्वप्नावस्था में मन ही एक–एक करके विषय और विषयी बनता है। बार–बार विषय और विषयी बनने के इस स्पंदन व्यवहार से जब मन थककर निष्क्रिय हो जाता है, तब जीव उससे भी छूट जाता है और सुषुप्ति में प्रवेश करता है। इस निरुपाधिक अवस्था में जीव को शास्त्र प्राज्ञ नाम देता है (मा.भा. ५)। इस अवस्था में जीव एकमात्र रह कर, आनन्दमय हो जाता है। जो प्रकाश जाग्रत् और स्वप्न में इन्द्रियों और मन को प्रकाशित करता है वह वास्तव में इस प्राज्ञ का ही है। सुषुप्ति से उठने के बाद वह कहता है कि "मन और इन्द्रियों के अभाव में मैंने गहरी नींद का आनन्द लिया"। यह सिद्ध करता है कि जीव को मन और इन्द्रियों के अभाव का अनुभव जिस प्रकाश के द्वारा हुआ वह उसका स्वधर्म ही है। इसलिये, मन आदि उपाधि जड़ ही हैं। वे तमस् स्वभाव की हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व और प्रकाशत्व इस निरुपाधिक प्राज्ञ के ही धर्म हैं।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के इस विश्लेषण से एक विस्मयकारी तथ्य सामने निकल कर आता है। वह यह है कि जाग्रत् में सब स्वभाविक रूप से अपने को समझते हैं कि 'मैं पुरुष हूँ,

युवा हूँ' इत्यादि। शरीर के आधार पर की गयी इस पहचान के विषय में किसी को कोई संशय नहीं होता। परन्तु अपनी स्वप्नावस्था के विषय में पूछे जाने पर उसे थोड़ी कठिनाई होती है–वह कहेगा "मैं तालाब में तैर रहा था"। अगर उससे पूछा जाये कि "क्या तुम वह हो जो उस समय बिस्तर पर था? या वह जो तालाब में तैर रहा था?" तो वह संशय में पड़ जायेगा। यह स्पष्ट है कि जो तैर रहा था वही बिस्तर पर लेटा हुआ नहीं हो सकता है। इस प्रकार, स्वप्नसमीक्षा से उसे अपने बारे में संशयज्ञान उत्पन्न होता है जो कि उसकी जाग्रत् में की गयी धारणा कि 'मैं पुरुष हूँ' इत्यादि की अपेक्षा अनिश्चित है। और यदि उससे फिर यह पूछा जाये कि "सुषुप्ति में तुम कहाँ थे? क्या थे?" तो वह यही कहेगा कि "मैं नहीं जानता सुषुप्ति में मैं कौन था, कहाँ था"। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन आदि उपाधियों से मुक्त होने पर जब वह एकमात्र अकेला रह जाता है तो जीव को अपने विषय में अज्ञान रहता है। किन्तु इस अज्ञान में भी उसे यह तो स्पष्ट रहता ही है कि कम से कम सुषुप्ति के समय तो वह मन, इन्द्रिय, शरीर, सब उपाधियों से रहित अकेला ही था। कोई भी यह नहीं कहता कि वह सुषुप्ति के समय "नहीं था"। इसलिये, यदि उसे समझाया जाता है कि अपने आप को उसने जो 'पुरुष, युवा' इत्यादि के रूप में पहचाना है वह मिथ्याज्ञान है तो बिना कठिनाई वह समझ लेगा। यह बात और है कि वह यह अवश्य कहता है कि इस मिथ्याज्ञान को छोड़ना बहुत कठिन है। यह तो सकललोकप्रत्यक्ष है ही। 'मैं कौन हूँ', यह नहीं जानना ही जीव की अविद्या है। सुषुप्ति के अपने अनुभव के आधार पर यह जानते हुये भी कि शरीरादि से उसका सम्बन्ध नहीं है, जाग्रत् में उसको यह मिथ्याज्ञान रहता है कि मैं शरीरादि हूँ। यही मिथ्याज्ञान उसका अध्यास है। इसके आधार पर ही वह 'मैं और तुम' रूपी विषमता का निर्माण करता है, रागद्वेष से उसका मिश्रण करता है और संसार में फँस जाता है। संसारव्यवहार सबके लिये स्वभाविक होने पर भी अध्यासभाष्य का तात्पर्य हमें यह समझाने में है कि यह सारा व्यवहार अध्यास के कारण ही होता है। सबके अनुभव में आने वाली तीनों अवस्थाओं से हटकर एक शब्द भी बिना कहे भाष्यकार अपनी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं, जिससे सबको यह अविद्या समझ में आ जाती है। इससे हमें भगवान् भाष्यकार के अनुपम उपदेशनैपुण्य और परमकारुण्य की झलक मिलती है। उसके श्रवणमात्र से एक साधारणबुद्धि साधक को भी अपनी भारी भूल का आसानी से पता पड़ जाता है। इसके बाद साधक में स्वभाविक रूप से ही आगे प्रस्तुत शारीरक मीमांसा के विषय में श्रवण करने की इच्छा पैदा होती है जिसका फल आत्मैकत्व-अवगति है। इस प्रकार, अध्यासभाष्य शारीरक अर्थात् जीवमीमांसा के लिये उपोद्घात है।

Maha Pariwrajaka

कुछ लोग भाष्यकार में यह दोष देखते हैं कि उन्होंने ग्रन्थ के आरंभ में मंगलाचरण नहीं किया है। ऐसे लोगों ने प्रकरण (संदर्भ) को नहीं समझा है। **मंगलाचरण उसी के लिये सप्रयोजक है जिसने अपने अविद्यारूपी दोष को जान लिया है,** जिसने नहीं जाना है उस मूर्ख के लिये नहीं। अध्यासभाष्य मूल ग्रन्थ का भाग नहीं है। वह तो ग्रन्थ की भूमिका है जो साधक को मँगलसन्देश के लिये तैयार करती है। साधनसम्पत्ति से सम्पन्न साधक के लिये तो सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त 'अथ' शब्द का श्रवणमात्र ही मंगलसूचक है। उसमें एक और सन्देश जोड़ना शिष्टों का व्यवहार नहीं है।

अब आगे भाष्यवाक्यों की यथाशक्ति विमर्शा की जाती है:–

१. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः

१. तुम और मैं ऐसी प्रतीति के योग्य

(१.१) प्रत्यय का अर्थ है बोध; अर्थात्, किसी वस्तु का ज्ञान होना। जब एक प्रत्यक्ष घट का बोध होता है तब बुद्धि घटाकार लेती है, इसी को प्रत्यय कहते हैं। इसीलिये, जब घटप्रत्यय बनता है तभी हम कहते हैं कि घट का ज्ञान हुआ है। घटप्रत्यय का विषय घट ही है। इस प्रकार सभी ज्ञात वस्तुएँ गोचर हैं अर्थात् जानने में आने वाली हैं। ये सब युष्मत् शब्द में समाहित हैं और ज्ञाता अस्मत् शब्द में समाहित है। भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में अगर कहें तो युष्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्र है और अस्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्रज्ञ है (गीता १३.१)।

(१.२) प्रश्नः युष्मत् शब्द का अर्थ 'तुम' है, जो कि चेतन है, परन्तु क्षेत्र तो जड़ है; तो फिर युष्मत् को क्षेत्र कैसे कह सकते हैं?

उत्तरः क्षेत्र क्योंकि जड़ है, इसलिये, अगर उसे युष्मत् के स्थान पर इदं शब्द से लक्षित किया होता तो उसका जो जीव से भिन्नत्व है वह स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि जीव अपने को इदं (यह शरीर) ही समझता है। परन्तु यहाँ पर ध्येय यह समझाना है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अत्यन्त भिन्नस्वभाव के हैं। यह भिन्नत्त्व जीव के अनुभव के आधार पर ही समझाना उचित है वरना उसे समझ नहीं आयेगा। अभी उसकी समझ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न नहीं हैं। वह अपने को और दूसरों को भी जड़ शरीर से अभिन्न समझता है। फिर भी वह स्वभाववश अपने को दूसरों से भिन्न भी समझता ही है। इसलिये, अगर क्षेत्र को युष्मत् कहा जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्मत् उससे भिन्न ही है। परन्तु, क्षेत्रज्ञ को जड़ शरीर से अलग करने का कार्य तो अभी भी रहता है। यह विभाग करने के लिये ही अगले ही शब्द में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को क्रमशः विषय-विषयी कहा गया है। इस प्रकार, पहले क्षेत्र को युष्मत् और फिर विषय कहकर दो सोपानों में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भिन्न स्वभाव स्पष्ट किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि समस्त जगत् युष्मत्प्रत्ययगोचर है और 'मैं' अस्मत्प्रत्ययगोचर। स्वयं 'मैं' ही अस्मत्प्रत्यय का विषय हूँ।

Maha Parivrajaka

२. विषयविषयिणोः

२. विषय और विषयी का

(२.१) षिञ् बन्धने, इस धातु से विषय पद बना है। ***'विसिनोति निबध्नाति विषयिणम् इति विषयः'*** विषयी को जो बान्धता है उसे विषय कहते हैं।

विषय को जानने वाला ही विषयी है। जब विभिन्न इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सम्पर्क होता है तभी विषयी के लिये शब्दादि विषय निश्चित होते हैं। तत्पश्चात् बुद्धि में सम्बन्धित प्रत्यय उत्पन्न होता है। यही है वह बन्धन जो विषयी को विषय से बान्धता है। सम्पूर्ण जगत् विषयकोटि में ही आता है। तब उसका विषयी कौन है? शब्दादि विषयों के लिये श्रोत्रादि इन्द्रियाँ विषयी हैं; श्रोत्रादि इन्द्रियों के लिये मन विषयी है; मन के लिये बुद्धि विषयी है; बुद्धि के लिये अहंकार विषयी है: **'**मैं बुद्धि-प्रत्ययों को जानने वाला हूँ**'** यह भाव ही अहंकार है। जाग्रत् और स्वप्न में यह अहंकार स्पष्ट है। लेकिन क्या अहंकार का भी कोई विषयी है? यदि हाँ तो वह कौन है? यह प्रश्न है। अहंकार किसके लिये विषय है? मेरे लिये। मैं कौन हूँ? सुषुप्ति में अहंकार से लेकर शब्दादि जगत् तक सबके अभाव को जो जानता है, वह प्राज्ञ ही मैं हूँ।

प्रश्नः सुषुप्ति में जगत् के अभाव को पहचानने का अनुभव किसी को भी नहीं है। इसलिये ये कैसे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में प्राज्ञ विषयी है?

उत्तरः ऐसा नहीं है। यह सत्य है कि सुषुप्तिकाल में किसी विषय का अनुभव नहीं होता। परन्तु जागने के बाद, 'सुषुप्ति के समय कोई भी विषय नहीं था'-यह कथन उस समय का अनुभव ही है। इस अनुभव के आधार पर ही प्राज्ञ अहंकार का भी विषयी माना जाता है- ***'भूत भविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वम् अस्य एव इति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते।'*** भूत भविष्यत् का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्व गति से प्राज्ञ कहा जाता है। (मां. भा.५)

(२.२) इस प्रकार बाह्यजगत्-इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार-प्राज्ञ, ये ज्ञानक्रिया की शृंखला है। इसमें जगत् हमेशा विषय है और प्राज्ञ हमेशा विषयी है। इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार में से हर एक अपने से पहले वाले का विषयी होने पर भी बाद वाले के लिये विषय बनता है। यथार्थतः तो उनको विषयित्व भी प्राज्ञ के सान्निध्य से ही प्राप्त है, स्वतन्त्र रूप से वे विषयी नहीं हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि प्राज्ञ के अन्दर रहकर उसका भी विषयी बनने वाला विषयी लोगों के अनुभव में न रहने से, प्राज्ञ ही मूलविषयी है। जगत् से लेकर अहंकार तक सम्पूर्ण क्षेत्र उसके लिये विषय हैं, इसलिये वह ही क्षेत्रज्ञ है।

३. तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः

३. अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध-स्वभाव वाले

(३.१) क्षेत्र तमोरूप है, क्षेत्रज्ञ प्रकाशरूप है। दोनों का स्वभाव विरुद्ध है।

प्रश्नः क्षेत्रज्ञ प्राज्ञ प्रकाशरूप कैसे है?

उत्तरः जाग्रत् में बाह्य पदार्थों के ज्ञान के लिये सूर्यादि का बाह्य प्रकाश आवश्यक है। परन्तु उनकी अनुपस्थिति में भी स्वप्न में ज्ञानक्रिया तो चलती ही रहती है। इस क्रिया के लिये भी प्रकाश तो आवश्यक है ही फिर यह प्रकाश कौन सा है? यह प्रकाश आन्तरिक ही हो सकता है बाह्य नहीं, क्योंकि स्वप्न में बाह्य प्रकाशों का प्रवेश नहीं है। यह प्रकाश कौन सा है इस प्रश्न पर देहात्मवादी उत्तर देगा कि 'चूंकि स्वप्न में एकमात्र मन ही रहता है, इसलिये यह प्रकाश मन का ही है।' लेकिन यह कथन संगत नहीं क्योंकि मन जड़ है। सुषुप्ति में मन की अनुपस्थिति प्राज्ञ के अनुभव में है। इसलिये मन भी विषय ही है, अर्थात् क्षेत्रकोटि का ही है, और तमोरूप है, उसमें प्रकाशधर्म नहीं है। प्राज्ञ ही प्रकाशधर्म वाला है क्योंकि वह किसी का भी विषय नहीं बन रहा है।

(३.२) साधारणतया लोग यही समझते हैं कि केवल सूर्यादि का प्रकाश ही, जो कि किसी भी वस्तु को देखने/पहचानने के लिये आवश्यक है, असल में प्रकाश है। इसीलिये, यह समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि प्राज्ञ प्रकाशरूप है। प्रकाश आखिर कहते किसको हैं? '***यद् यद् कस्यचिदवभासकं तत् तत् ज्योतिः शब्देन अभिधीयते***–जो-जो किसी वस्तु का प्रकाशक है, उस-उस को ज्योति कहा जाता है'(सू.भा.१.१.२४)। ज्योति ही प्रकाश है। रूप जिस प्रकार सूर्यादि के प्रकाश द्वारा वस्तु को समझाता है, उसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध द्वारा भी वस्तु जानी जाती है। कुत्ते का भौंकना सुनकर हम अन्धकार में भी ग्राम पहुँच जाते हैं; स्पर्श से पुस्तक आदि की जानकारी मिलती है। इसलिये, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध भी प्रकाश ही हैं। इन प्रकाशों का प्रकाश प्राज्ञ है।

(३.३) विषय-विषयी के विरुद्ध स्वभावों को समझाने के लिये यहाँ सादृश्य से तम-प्रकाश कहा है। इस सादृश्य की सार्थकता के लिये कुछ लोग तमस् को भावरूप कहते हैं। यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रकाश से प्रकाशित रूप के द्वारा तो वस्तुज्ञान होता है परन्तु अन्धकार में नहीं होता। इसलिये तमस् और प्रकाश विरुद्ध हैं। लेकिन शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध का प्रकाश ऐसा नहीं है। इनके द्वारा भी वस्तु का ज्ञान तो होता हैं; लेकिन तमस् जैसे प्रकाश का प्रतियोगी है, शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध के लिये वैसा कोई प्रतियोगी नहीं है। इसलिये, तमस् को भावरूप सिद्ध करने वाले तर्कश्रम से लाभ नहीं है। प्रकाश और तमस्, चित् और जड़ के भिन्न स्वभावों को दिखाने के लिये दिया हुआ केवल दृष्टान्त है। भाष्यकार ने अगले वाक्य में 'विषयिणि चिदात्मके' कहकर चिद्रूप विषयी को जड़ जगत् से अलग करके यही कहा है।

(३.४) प्रश्नः तमप्रकाशों की व्याख्या के बाद एक प्रश्न यह उठता है कि प्राज्ञ तो प्रत्यगात्मा

(अन्दर की आत्मा) है। लेकिन तुरीय (शुद्धात्मा) तो प्रत्यक्तर आत्मा है, ऐसे में क्या शुद्धात्मा को ही मूलविषयी के रूप में रखना ज्यादा उचित नहीं है?

उत्तर: नहीं; क्योंकि अध्यासभ्रम में जो फँसा हुआ है वह क्षेत्रज्ञ जीव ही है, तुरीय शुद्धात्मा नहीं। इसलिये भाष्यकार ने क्षेत्रज्ञ को ही विषयी माना है, तुरीय को नहीं। गीताभाष्य में इसे स्पष्ट कहा है:–

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोः इतरेतर-तद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूप विवेकअभावनिबन्धनः रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावाद् अध्यारोपित-सर्परजतादिसंयोगवत्। सोऽयम् अध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगः मिथ्याज्ञानलक्षणः'–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जो कि विषय और विषयी हैं तथा भिन्न स्वभाव वाले हैं उनका, अन्य में अन्य के धर्मों का अध्यासरूप संयोग है। यह संयोग, रज्जु और सीप आदि में, उनके स्वरूपज्ञान के अभाव के कारण अध्यारोपित सर्प और रजत आदि के संयोग के समान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण है। वह यह अध्यासस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग मिथ्याज्ञान है (गीता. भा.१३.२६)। गीताभाष्य का यह वाक्य ही सूत्रभाष्य का प्रस्तुत वाक्य है–***'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः तमःप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः इतरेतरभाव-अनुपपत्तौ सिद्धायां'***इत्यादि। यह हमें सदैव ध्यान रखना है। इसलिये, विषयी के स्थान पर हमें किसे रखना है इसका निश्चय हम अपनी अल्पबुद्धि से नहीं कर सकते। शुद्धात्मा को विषयी के स्थान पर रखना किस प्रकार विपत्कारी है, इसका विश्लेषण हम आगे करेंगे।

(३.५) प्रश्न: कोई विषयी स्वयं अपना विषय नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्यगात्मा प्राज्ञ भी अपना विषय नहीं बन सकता; तब, वह अस्मत्प्रत्ययगोचर कैसे हो सकता है? गोचर हुआ तो वह विषय ही हो गया न?

उत्तर: ठीक है। जाग्रत् और स्वप्न के समान सुषुप्तिकाल में अहंप्रत्यय नहीं रहता। इसलिये प्राज्ञ ही प्राज्ञ को विषय नहीं होता। लेकिन बुद्धिप्रत्यय को प्राप्त कर सकने वाले बहिष्प्रज्ञ के लिये यह विषय है। कैसे? सुनो: सब सुषुप्ति से उठने के बाद ***'न किंचिदवेदिषं सुखमहमस्वाप्सम्'***–"मैं सुख से सोया। मैंने कुछ भी नहीं जाना", ऐसा कहकर प्राज्ञ को ही पहचानते हैं। ***'बीजावस्थापि 'न किंचिदवेदिषम्' इति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'***–जागने के बाद 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है' (मां.का.भा. १.२)। इसलिये प्राज्ञ बहिष्प्रज्ञके लिये विषय है, यह सबका अनुभव है। लेकिन बहिष्प्रज्ञ अपने आपको निश्चित रूप से जैसे 'पुरुष, युवा' आदि समझता है, उस प्रकार प्राज्ञ को नहीं जानता है; इसलिये, जानने को उत्सुक होता है। इसको इतना रहने दो। बाद में हम विश्लेषण करेंगे कि जो विषय नहीं हो सकता वह आखिर विषय बनता कैसे है?

Mata Parivrajaka

(३.६) इस प्रकार यह प्रसिद्ध है कि क्षेत्र, जो कि विषय और तमोरूप है, विषयी और प्रकाशधर्मवाले क्षेत्रज्ञ से अत्यन्त विलक्षण है। यह भी प्रसिद्ध है कि प्राज्ञ और जगत् प्रत्ययगोचर हैं। इस प्रकार, दोनों में एक ही सादृश्य है–विषयत्व।

४. इतरेतर भावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतराम् इतरेतरभावानुपपत्तिः।

४. एक का भाव दूसरे का नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर, उनके धर्मों का भी तादात्मय नितरां नहीं बन सकता, यह सिद्ध ही है।

(४.१) ज्ञानक्रिया तभी संभव है जब विषय और विषयी भिन्न हों। अगर वे भिन्न नहीं हैं तो ज्ञानक्रिया असंभव है। सब जानते हैं कि क्षेत्रज्ञ विषयी है और क्षेत्र विषय। इसलिये, यह प्रसिद्ध है कि एक का दूसरा होना, या फिर एक का धर्म दूसरे में होना असाध्य है।

५. इत्यतः अस्मत्प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्ययगोचरस्य विषयस्य तद्धर्माणां च अध्यासः

५. इसलिये 'मैं' ऐसी प्रतीति के योग्य जो चैतन्यस्वरूप विषयी है उसमें 'तुम' इस प्रतीति के योग्य जो विषय (देहादि जड़ अनात्म वस्तु) हैं, उनका, एवं उनके धर्मों का अध्यास–

(५.१) फिर भी हम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को मिला देते हैं। पुरुषत्व, स्त्रीत्व आदि शरीरधर्म, सुनना आदि इन्द्रियधर्म, ज्ञानक्रिया आदि बुद्धिधर्म, ये सब क्षेत्र और उसके धर्म हैं। ज्ञातृत्व क्षेत्रज्ञ का धर्म है। इस प्रकार, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के धर्म अत्यन्त भिन्न हैं। सबका अनुभव यही है कि ज्ञाता प्राज्ञ का क्षेत्र से सम्बन्ध नहीं है। इससे कोई भी अनभिज्ञ नहीं है। तो भी हम कभी 'मेरी बुद्धि, मेरी आँख, मेरा शरीर' ऐसा कहकर अपने को बुद्धि–इन्द्रिय–शरीर से अलग करते हैं, और कभी 'मैं बुद्धिमान, मैं अन्धा, मैं पुरुष' कहकर बुद्धि–इन्द्रिय–शरीर को स्वयं ही समझकर व्यवहार करते हैं। अर्थात् क्षेत्र को ही 'स्वयं' इस प्रकार गलत समझते हैं। इसी प्रकार, बुद्धि–इन्द्रिय–शरीर के धर्मों को स्वयं मानकर 'मैं निश्चय करता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं काला हूँ' इत्यादि कहते हैं। उतना ही नहीं–

६. तद्विपर्ययेण विषयिणः तद्धर्माणां च विषये अध्यासः

६. और इसके विपरीत, विषय में विषयी और उसके धर्मों का अध्यास

(६.१) तद्विपरीत क्षेत्र में प्रत्यगात्मा के धर्मों का भी अध्यास करते हैं। कैसे? हम इससे अनभिज्ञ नहीं है कि सुषुप्ति में हम निर्विषय सुख का आनन्द लेते हैं। इसलिये स्पष्ट है कि यह सुख प्राज्ञ का धर्म है। ऐसा विवेक रखने की बजाय प्राज्ञ कहता है कि 'सुषुप्ति में मुझे सुख का ज्ञान नहीं था, इसलिये मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि उस समय मैं सुखी था? यह भी तो हो सकता है कि सुषुप्ति केवल दुःख से रहित

एक अवस्था हो?' इस प्रकार अपने ही अनुभव पर सन्देह करते हुये वह जाग्रत् में फिर दुबारा से विषयों में ही सुख खोजता है; विषयसुखों के भोग में ही अपने को सुखी मानता है अन्यथा असुखी मानता है। तात्पर्य यह है कि विषयीधर्म सुख का विषय में अध्यास करता है। इसी तरह, सर्वविषयज्ञातृत्व प्राज्ञ का स्वधर्म होने पर भी वह कहता है:–'सुषुप्ति में मुझे कुछ भी पता नहीं पड़ा, इसलिये मैं ज्ञाता कैसे हो सकता हूँ?' इस प्रकार संशय करते हुये वह जागने के बाद ज्ञातृत्व को अपनी बुद्धि में देखता है। उसको लगता है कि वह तभी ज्ञाता होता है जब वह बुद्धि के साथ होता है; अन्यथा बुद्धि से रहित अपने को चैतन्यरहित सा मानता है। इस तरह वह स्वधर्म ज्ञातृत्व का बुद्धि में अध्यास करता है। इससे स्पष्ट है कि विषय-विषयी का जो प्राज्ञ (वह) परस्पर अध्यास कर रहा है वह गलती से नहीं बल्कि जानबूझकर कर रहा है। अर्थात्, गुरु के द्वारा गलती को समझने के बाद भी वह अपने को सुधारने में असमर्थ है।

७. मिथ्या इति भवितुं युक्तम्।

७. मिथ्या ही होना है।

(७.१) अर्थात्, 'यह रजत नहीं शुक्ति है', ऐसा समझाने के बाद भी शुक्ति का परीक्षण करके उसका निश्चय करने के संकल्प के अभाव में जैसे रजतज्ञान में ही आगे बढ़ना मिथ्याज्ञान है, उसी प्रकार यह अध्यास भी ढीठ मिथ्याज्ञान है। प्राज्ञ में न रहनेवाले शरीरादि धर्मों को प्राज्ञ में देखना हो, या विषय और बुद्धि में न रहने वाले सुख और ज्ञातृत्व को विषय और बुद्धि में देखना हो, ये सब मिथ्याज्ञान ही हैं। मिथ्याज्ञान का विषय मिथ्या है–अर्थात्, दिखायी देने पर भी असत् है। उदाहरण के लिये, शुक्ति में न रहनेवाला रजत दिख पड़ने पर भी असत् है। इसलिए मिथ्या है। यहाँ याद रखनेवाली बात यह है कि रजत वस्तु मिथ्या नहीं है, शुक्ति में दिखने वाला रजत मिथ्या है। मरीचिका में दिखायी देने वाला पानी असत् है। इसलिए मिथ्या है। यहाँ मरीचिका प्रातिभासिक सत्य है, पानी व्यावहारिक सत्य है। दोनों सत्य हैं–मिथ्या नहीं। इसलिये, 'पानी जैसी दिखने वाली मरीचिका' ऐसा समझना मरीचिका का यथार्थ ज्ञान है। उसको पानी ही समझना मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञान का विषय पानी मिथ्या है–असत् है, क्योंकि वह पानी नहीं है। उसी प्रकार, जगत् और उसके धर्म, प्राज्ञ और उसके धर्म, ये सब व्यावहारिक सत्य हैं मिथ्या नहीं। लेकिन, प्रत्यगात्मा में देखे हुये जगद्धर्म हों, या जगत् में देखे हुये प्रत्यगात्मा के धर्म हों, मिथ्या ही हैं; क्योंकि जगत् में प्रत्यगात्मा नहीं, प्रत्यगात्मा में जगत् नहीं। हमने यदि इस प्रकार न कहकर नियम से हमेशा ऐसा ही कहा कि 'जो अध्यस्त है वह मिथ्या है, दिखायी देने पर भी असत् है इसलिये प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् मिथ्या-असत् है' यह बहुत बड़ी भूल होगी क्योंकि तद्विपर्यय अध्यास में प्रत्यगात्मा अध्यस्त है। इस नियम को स्वीकार करने से तो प्रत्यगात्मा असत् हो जायेगा। यह असाध्य है। ***'अध्यासः मिथ्या इति भवितुं युक्तम्'*** कहकर विषय-विषयी के परस्पर अध्यास को ही मिथ्या कहा है न कि स्वयं विषय-विषयी को। यह सदैव स्मरण रखने की बात है।

Maria Parivrajaka

८. तथापि अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतरा-विवेकेन अत्यन्तविविक्तयोः धर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य ''अहमिदम्'', ''ममेदम्'' इति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

८. तो भी धर्म और धर्मी, जो कि अत्यन्त भिन्न हैं, इनका परस्पर भेद न समझकर, अन्योन्य में अन्योन्य के स्वरूप और अन्योन्य के धर्म का अध्यास करके, सत्य और अनृत का मिथुनीकरण करके 'मैं यह' 'यह मेरा' ऐसा मिथ्याज्ञाननिमित यह स्वभाविक लोकव्यवहार चलता है।

(८.१) इस प्रकार दोनों ओर से अध्यास होते रहने से इतना तो स्पष्ट है कि जैसे शुक्ति का अज्ञान उसमें रजताध्यास का हेतु होता है, उसी प्रकार प्रत्यगात्मस्वरूप का अज्ञान उसमें देहाध्यास का, और जगत्स्वरूप का अज्ञान उसमें प्रत्यगात्मा के अध्यास का हेतु बनता है। अर्थात् जीव न तो प्रत्यगात्मा का स्वरूप जानता है, न जगत् का। वह उन दोनों के स्वरूप को न जानकर उनके व्यवहार से ही उन्हें पहचानता है। व्यवहार स्वरूप को छोड़कर नहीं रह सकता है, परन्तु स्वरूप व्यवहार को छोड़कर ही रहता है। अध्यास को नष्ट करने के लिये स्वरूप को जानना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि अज्ञानी भी प्राज्ञ के व्यवहार रहित लक्षण को जानता है, लेकिन अपने जाग्रत् और स्वप्न के व्यवहार का उसमें अध्यास करता है। अर्थात् व्यवहार के अपने को छोड़ने पर भी वह व्यवहार को नहीं छोड़ता है। इसका अनुवाद करके शास्त्र भी उसका ज्ञातृत्वादि बताता है। ***'तेन एव हि अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च स एव अश्नाति'***-अहंप्रत्यय के विषय प्रत्ययी अहंकर्ता से सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल वही भोगता है (सू.भा. १.१.४)। यहाँ अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व और उनके आधार पर होने वाले व्यवहार जगत् के धर्म हैं और जगत् धर्मी है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व प्रत्यगात्मा के धर्म हैं और प्राज्ञ धर्मी है। यहाँ धर्म-धर्मी को अग्नि-उष्णवत् अभेदार्थ में नहीं लेना है बल्कि, '***कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं***-कार्य कारण से अनन्य है लेकिन कारण कार्य से अन्य ही है' (सू.भा.२.१.९) इस अर्थ में लेना है। अर्थात्, धर्मी को छोड़कर धर्म का अस्तित्व नहीं है परन्तु धर्मी का अस्तित्व धर्म को छोड़कर भी है। उपाधि के द्वारा ही धर्म धर्मी में दिखायी देता है; निरुपाधिक धर्मी में धर्म नहीं होता। चाहे जगत् हो चाहे प्रत्यगात्मा, उपाधि द्वारा ही व्यवहारवान् होते हैं; निरुपाधिक रूप से वे सब व्यवहाररहित ही हैं। जगद्व्यवहार के लिये विकार उपाधि है, निरुपाधिक रूप से वह अव्यवहार्य आत्मा ही है। प्रत्यगात्मा के व्यवहार के लिये करण उपाधि हैं; करणरहित स्वरूप में वह भी अव्यवहार्य आत्मा ही है। निरुपाधिक स्वरूप को न जानकर उसे केवल सोपाधिक ही समझने के कारण, सत्य और अनृतों का मिथुनीकरण करके 'मैं मेरे' का अध्यास होता है।

(८.२) इस कंडिका में 'सत्य' क्या है? न बदलने वाला। ***'यद् रूपेण यन् निश्चितं तद् रूपं न***

व्यभिचरति तत् सत्यम्'–जिस रूप में एक काल में ज्ञात होकर सदा सर्वकाल उसी रूप में रहता है, वह सत्य है। और 'अनृत' क्या है? जो बदलता है– *'यद् रूपेण यन् निश्चितं यत् तद् रूपं व्यभिचरत् अनृतम् इति उच्यते'*–जिस रूप में एक बार ज्ञात होकर जो बाद में उस रूप को छोड़ देता है, वह अनृत है (तै.भा. २.१.१)।

यहाँ पर प्राज्ञ का सत्यत्व और जगत् का अनृतत्व सुप्रसिद्ध है। जो कोई सत्य, अनृत इन शब्दों का अर्थ जानता है वह इसका निराकरण नहीं कर सकता क्योंकि प्राज्ञ में अनृतत्व का हेतु कोई विकार नहीं है।

(८.३) प्रश्न: प्राज्ञ को सत्य कैसे कहा? सुषुप्ति में जो प्राज्ञ होता है, स्वप्न में वही अन्त:प्रज्ञ और जाग्रत् में बहिष्प्रज्ञ होता है; अर्थात् बदलता रहता है। इतना ही नहीं, एक ही समय में अलग-अलग जीव अलग-अलग अवस्थाओं में होते हैं–कोई सुषुप्ति में और कोई जाग्रत् में तो कोई स्वप्न में होता है। इन दोनों कारणों से प्राज्ञ अनृत ही हुआ न?

उत्तर: ऐसा नहीं है। प्राज्ञ सदा प्राज्ञ ही है। वह मन की उपाधि से अन्त:प्रज्ञ और मन-शरीर उपाधियों से बहिष्प्रज्ञ बनता है। परन्तु अलग-अलग उपाधि द्वारा अलग-अलग रूप में दिखने पर भी करणव्यवहार के अनुसार उसका स्वरूप नहीं बदलता। किसी पुरुष के करछी की उपाधि द्वारा रसोइये के रूप में दिख पड़ने पर भी कोई यह नहीं कहता कि 'बिना करछी यह रसोइया नहीं है'। और तो और, शरीर के भेद से भी प्राज्ञ में भेद नहीं है। शरीर के अनुसार बहिष्प्रज्ञ के अनुभवों में तो भेद होता है। जाग्रत् में एक का अनुभव दूसरा बिना पूछे नहीं जान सकता है। जानने के लिये पूछना ही पड़ता है; अर्थात् बहिष्प्रज्ञ में नानात्व है। उसी प्रकार, अन्त:प्रज्ञ के अनुभव में भी भेद होता है। एक का स्वप्नानुभव दूसरा बिना पूछे नहीं जान सकता है, जानने के लिये पूछना ही पड़ता है। लेकिन प्राज्ञ में ऐसा नहीं है। एक की सुषुप्ति का अनुभव दूसरा बिना पूछे ही जान लेता है। इसलिये, सांख्यों के पुरुष के समान प्राज्ञ में नानात्व नहीं है, एकत्व ही है। वह अविभक्त होने पर भी (देहादि संबंध से) विभक्त सा स्थित है–**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** (गी. १३.१६) इसलिये प्राज्ञ सत्य है।

(८.४) भिन्न होने पर भी लोग सत्य प्राज्ञ और अनृत शरीर का मिथुनीकरण करके 'मैं पुरुष हूँ–मैं स्त्री हूँ' इत्यादि और 'वह मेरा मित्र है–वह मेरा शत्रु है' इस प्रकार गलत पहचान के अनुसार ही कर्म करते हैं। यह लोकप्रसिद्ध है। सत्य और अनृत का यह मिथुनीकरण ही अध्यास है। इसके आधार पर होने वाला व्यवहार नैसर्गिक यानी कि स्वाभाविक है; अर्थात् किसी के सिखाये बिना ही होता है।

९. आह। कोऽयमध्यासो नाम इति? उच्यते। स्मृतिरूप: परत्र पूर्वदृष्टावभास:।

९. पूछते हैं कि 'यह अध्यास क्या है?' इस पर कहते हैं–पूर्वदृष्ट का स्मृतिरूप दूसरे में जो अवभास है (वही)।

Maha Parivrajaka

(९.१) यह वाक्य अध्यास का लक्षण बताता है। शुक्ति-रजत दृष्टान्त में रजत पूर्वदृष्ट है अर्थात् पहले देखी हुयी वस्तु है। रास्ते में जब शुक्ति दिखायी देती है तो उसी क्षण 'यह कुछ है' इस प्रकार सामान्य ज्ञान होने के साथ-साथ उसका चमकीलापन मन में रजत की स्मृति भी लाता है। तब शुक्ति का परीक्षण किये बिना ही उसे रजत समझ लेते हैं। यह मिथ्याज्ञान ही अध्यास है। जो पूर्वदृष्ट नहीं है वह स्मृतिरूप में नहीं आ सकता, और जो स्मृतिरूप में नहीं आ सकता वह अध्यस्त नहीं हो सकता। अर्थात्, अध्यास के लिये अध्यस्त का पूर्वदृष्ट होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, रजत पूर्वदृष्ट नहीं हो तो यह निश्चय भी नहीं हो सकता कि 'रजत अध्यस्त था'। उसी प्रकार अधिष्ठान का भी पूर्वदृष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा शुक्ति के परीक्षण के बाद यही ज्ञान होगा कि 'यह कुछ है'; परन्तु यह नहीं ज्ञात होगा कि शुक्ति में ही रजत का अध्यास हुआ था।

(९.२) स्मृति में पूर्वदृष्टवस्तु बुद्धिप्रत्ययरूपमात्र होती है असल में सामने नहीं होती। स्मृतिरूप का अर्थ है स्मृतिमात्र में दिख पड़नेवाला पूर्वदृष्टवस्तु का रूप। स्मृतिरूप के अनुगुण जब पूर्वदृष्टवस्तु प्रत्यक्ष दिखती है तब 'यह वही है' यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दो प्रकार की होती है–'व्यक्ति प्रत्यभिज्ञा' और 'जातिप्रत्यभिज्ञा'। पहले देखी हुयी कालाक्षी नाम की गाय का जब फिर एक बार दर्शन होता है, तब उत्पन्न होने वाला ज्ञान कि 'यह वही कालाक्षी है' व्यक्तिप्रत्यभिज्ञा है। उसी मनुष्य को जब स्वस्तिमती नाम की गाय दिखायी देती है तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह भी गाय है' वह जाति प्रत्यभिज्ञा है। यहाँ कालाक्षी पूर्वदृष्ट है और स्वस्तिमति परत्र-अलग गाय है; इसलिये, स्वस्तिमति को कालाक्षी समझना मिथ्याज्ञान होता। लेकिन कालाक्षी जैसी एक और दूसरी गाय समझना मिथ्याज्ञान नहीं है सम्यग्ज्ञान ही है, क्योंकि इस ज्ञान की विषय कालाक्षी गो व्यक्ति नहीं है परन्तु गोत्व है। यहाँ कालाक्षी में देखा गया गोत्व ही स्वस्तिमति में भी पहचाना गया है। यह अध्यास नहीं है, यथार्थ ज्ञान ही है। इस प्रकार, प्रत्यभिज्ञा पूर्वदृष्टवस्तु का यथार्थ ज्ञान है तो अध्यास पूर्वदृष्टवस्तु का अयथार्थ ज्ञान है। इसीलिये, अध्यास को अवभास कहा है। अवभास का अर्थ है परीक्षण के बाद निराकृत होने वाला ज्ञान।

(९.३) प्रश्नः छोटे बच्चे को भी जातिप्रत्यभिज्ञा रहती है। जब माँ बच्चे का एक गाय से परिचय कराती है तो बच्चा बिलकुल अलग दिखने वाली एक दूसरी गाय को भी 'गाय' ऐसे पहचानता है। सिर्फ एक गो व्यक्ति के आधार पर बच्चा गो जाति (गोत्व) को कैसे समझ सकता है?

उत्तरः ठीक है, छोटे बच्चे को भी जातिप्रत्यभिज्ञा रहती है। यह पूर्वजन्म की वासनाओं के कारण होता है। बृहदारण्यकश्रुति इसे पूर्वप्रज्ञा कहती है (बृ. ४. ४. २)।

(९.४) इस जन्म में मिलने वाला शरीर पूर्वदृष्ट नहीं है; इसलिये इस नये शरीर में 'यह मैं हूँ' अध्यास कैसे हो सकता है? देहाध्यास तो सादि ही होता है न?

उत्तर: हां । प्रस्तुत शरीर में अध्यास नया ही होता है; अर्थात्, देहाध्यास सादि ही है, अनादि नहीं। लेकिन देहाध्यास वासना अनादि है, क्योंकि यह वासना बुद्धि में रहती है और यह बुद्धिसम्बन्ध अनादि है। ***'अयम् अपि बुद्धिसम्बन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोध प्रसवयोः आविर्भवति। एवं हि एतत् युज्यते, नहि आकस्मिकी कस्यचित् उत्पत्तिः संभवति'***–सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिस्वरूप से वर्तमान यह बुद्धिसम्बन्ध ही पुन: प्रबोध और प्रसव में आविर्भूत होता है। (यह इस प्रकार ही युक्त है क्योंकि) किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है (सू.भा.२.३.३१)।

बच्चों में बुद्धिसम्बन्ध का अध्यास होने पर भी नये शरीर का अध्यास नहीं होता। इसको इस प्रकार समझ सकते हैं–मां द्वारा पीटे जाने पर भी बच्चा अपने को अपमानित नहीं अनुभव करता, पहले सा ही प्रेम व्यवहार करता है। कपड़े पहनना, अपने को अलंकृत करना–ऐसी सोच उसमें नहीं आती है। उसमें स्त्रीपुरुष भेद और काम नहीं होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चों में देहाध्यास नहीं होता। इसलिये, श्रुति भी ज्ञानी को ***'बाल्येन तिष्ठासेत्'***–बाल्यभाव में रहे (बृ.३.५.१), यह उपदेश देती है।

अब आगे यह प्रश्न है कि नये शरीर में देहाध्यास उत्पन्न कैसे होता है? जब शरीर को चोट लगती है तो बुद्धि इसको समझती है। बुद्धि में इसका परिणाम दर्द होना प्रकृति का कार्य है। ***'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः एतत् क्षेत्रम्'***–इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, स्थूलदेह, चेतना और धृति ये क्षेत्र हैं (गीता १३.६)। बच्चे में बुद्धिसम्बन्ध अनादि होने से वह यह समझता है कि बुद्धिवेद्य दर्द अपने को ही हो रहा है। इस प्रकार देह के द्वारा आनेवाला दर्द बार–बार होने के कारण देहाध्यास उत्पन्न होता है। जब यह अध्यास दृढ हो जाता है तो किसी एक अंग का नाश होने के बाद भी लगभग एक वर्ष तक अंगाध्यास रहता है। उदाहरण के लिये, विषपूरित घाव से जब पैर गलने लगता है और बाकी शरीरको बचाने के लिये वैद्य पैर को काट देता है, तो भी लगभग एक वर्ष तक पैर में खुजली और दर्द का आभास होता रहता है। पैर के अभाव का अनुभव दृढ़ होते–होते ही दर्द का अनुभव भी समाप्त होता है। इस प्रकार के देहाध्यास के आधार पर ही शास्त्र मृत के प्रेतकर्म का विधान करता है।

(९.५) प्रश्न: सुषुप्ति में जिस बुद्धिसम्बन्ध को हम छोड़ देते हैं वह जागते ही फिर वापिस कैसे लौट आता है?

उत्तर: सुषुप्तिकाल में बुद्धि नाड़ियों में विश्राम करती है, इसलिये जीव ज्ञानक्रिया में नहीं लग सकता। सुषुप्ति में जीव ज्ञातृत्व को बचा रखके ही ईश्वर में लीन होता है। अर्थात् उस समय भी अध्यास रहित अविद्या रहती ही है। इसी चिह्न का अनुसरण करके ईश्वर सुषुप्ति से उठने पर जीव का फिर उसी बुद्धि से सम्बन्ध करा देता है (सू.भा. ३.२.८)।

(९.६) प्रश्न: लेकिन प्रलय में तो सारे विकार नष्ट हो जाते हैं और एक ईश्वर ही बच जाता है, फिर अगली सृष्टि में जीव को उसी बुद्धि से सम्बन्ध कैसे प्राप्त होगा?

उत्तर: 'सूर्य चन्द्र रूपी जगत् की जैसे पहले सृष्टि थी, उसी प्रकार ईश्वर से फिर होती है–***सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्***' (ऋ.सं. १०.१९०.३)। सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर त्रिवृत्कृतभूतों की सृष्टि के साथ–साथ ही बुद्धि आदि शरीरपर्यन्त विकारों की सृष्टि करता है तथा उनका अपने–अपने जीवों से सम्बन्ध करा देता है।

उपर्युक्त विश्लेषण में नये शरीर में अध्यास की उत्पत्ति का क्रम बताया गया। अब अध्यास की व्याख्या अलग–अलग लोग किस प्रकार करते हैं इसकी विमर्शा होनी है। ये तीन है–अन्यथा ख्याति, अख्याति और असत् ख्याति।

१०. तं केचित् अन्यत्र अन्यधर्माध्यास इति वदन्ति।

१०. कुछ लोग एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं।

(१०.१) अन्यथाख्याति: यह नैयायिकों और भाट्टों द्वारा प्रतिपादित ख्याति है। इनके अनुसार शुक्ति में होने वाले रजत का अध्यास इस प्रकार है:–शुक्ति को देखते ही हमें उसका सामान्यज्ञान होता है; अर्थात् ज्ञान कि 'यह कुछ है'। उस समय हमें 'यह शुक्ति है' इस तरह का विशेषज्ञान नहीं होता। चमकने में शुक्ति का रजत से सादृश्य रहता है; इसलिये हमें पूर्वदृष्ट रजत की स्मृति होती है, क्योंकि सादृश्य को देखते ही स्मृतिरूप में वस्तु को खड़ा कर देना मन का स्वभाव है। तब अवश्य यह रजत ही है ऐसा लगता है। उस समय हम शुक्ति को रजत समझने की गलती करते हैं। शुक्ति की परीक्षा के बाद ही हमें समझ आता है कि 'यह रजत नहीं शुक्ति है'। तब हम यह जान जाते हैं कि इस सम्यग्ज्ञान से पहले जो हमने रजत देखा था वह असत् है। यहाँ पर 'असत्' का अर्थ यह नहीं है कि 'रजत नाम की वस्तु कहीं भी नहीं है'; उसका अर्थ इतना ही है कि 'शुक्ति में रजत नहीं है'। अगर रजत कहीं भी नहीं होता तो पूर्वदृष्ट नहीं हो सकता था, और यदि पूर्वदृष्ट न होता तो स्मृतिरूप में नहीं आ सकता था और परिणामस्वरूप अध्यास भी नहीं हो सकता था।

११. केचित्तु यत्र यदध्यासः तद् विवेक-अग्रहनिबंधनो भ्रमः इति।

११. कुछ लोग कहते हैं कि जिसमें जिसका अध्यास है उनका भेद न समझने के कारण होने वाला भ्रम अध्यास है।

(११.१) अख्याति: यह प्राभाकरों एवं साख्यों द्वारा प्रतिपादित ख्याति है। अन्यथाख्याति के समान यहाँ भी दो ज्ञान हैं–अधिष्ठान शुक्ति का सामान्यज्ञान और सादृश्य के कारण रजत का स्मृतिज्ञान। दोनों ही ठीक हैं। लेकिन इन दोनों को अलग करने का विवेक न होने के कारण भ्रम पैदा होता है कि 'यह रजत है'। यह भ्रम ही अध्यास है। अर्थात्, शुक्ति को रजतसदृश देखना गलत नहीं है, परन्तु शुक्ति से उसको अलग न करके शुक्ति को रजत ही समझना गलत है।

Maha Parivrajaka

प्रश्न: अपूर्वदृष्ट होने के कारण पीतशंख का स्मृतिरूप ज्ञान न होने पर भी कुछ लोगों को श्वेतशंख पीतवर्ण दिखता है। यह कैसे हो सकता है?

उत्तर: जिसको पीलिया का रोग है वही श्वेतशंख को पीत देखता है। यहाँ पर भी दो ज्ञान हैं। पहला, पीलिया के कारण श्वेतवर्ण को न पहचानकर होने वाला शंखज्ञान; और दूसरा, पीलिया के कारण होने वाला पीतवर्णज्ञान। दोनों में भेद करने का सामर्थ्य न होने से ही श्वेतशंख में पीतवर्ण का अध्यास होता है। उसका यह अज्ञान कि उसे पीलिया है ही यहाँ दोष है। जब उसे यह पता पड़ता है कि उसे पीलिया है तो उसे यह यथार्थज्ञान होता है कि 'यह तो एक श्वेतशंख है, जो केवल मुझे (और किसी को नहीं) पीत नज़र आ रहा है'।

१२. अन्ये तु यत्र यदध्यास: तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते।

१२. कुछ लोग जिसमें जिसका अध्यास है उसमें विरुद्ध धर्मवाले के भाव की कल्पना को अध्यास कहते हैं।

(१२.१) असत्ख्याति: शुक्ति के सामान्यज्ञान के आधार पर, शुक्तिसदृश रजत स्मृतिरूप में आने से, शुक्ति में न रहने वाले रजतधर्म की शुक्ति में कल्पना करना अध्यास है। इसको धर्माध्यास कहते हैं। शुक्ति को ही रजत समझना धर्मी-अध्यास है। कुछ लोग इसको बौद्धों की असत्ख्याति कहकर इसका निराकरण करते हैं; क्योंकि वस्तु वास्तव में न रहने पर भी संस्कार के कारण दिखायी देती है। परन्तु यह मत विज्ञानवादी बौद्धों का है। यहाँ जब रजत को असत् कहा तो उसका अर्थ 'शशविषाण के समान कहीं भी न रहनेवाला' किया तो वह विज्ञानवादियों का मत हो सकता है। परन्तु 'शुक्ति में न रहनेवाला' इतना मात्र ही अर्थ किया तो यह अस्वीकार्य नहीं होगा। यदि यह स्वीकार्य न होता तो भगवान् भाष्यकार इसका उल्लेख न करते। इसलिये, भाष्यकार के अभिप्रायानुसार असत् शब्द का अर्थ 'यहाँ न रहने वाला' करके इसको मिथ्याख्याति कह सकते हैं। यह कह सकने के लिये भाष्यसम्मति इस प्रकार है-

'शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति इति अत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्द: रजतशब्द: तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थ: प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति, न तु तत्र रजतम् अस्ति'-'शुक्ति को रजत समझता है' इसमें शुक्ति शब्द तो शुक्तिवाचक ही है लेकिन रजत शब्द का अर्थ है रजत की प्रतीति, क्योंकि यह रजत है ऐसी केवल प्रतीति ही होती है असल में वहाँ रजत नहीं है (सू.भा. ४.१.५)।

१३. सर्वथापि तु अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति।

१३. तदपि सभी मतों में 'अन्य में अन्य के धर्म की प्रतीति' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं है।

(१३.१) अब कहते हैं कि इन तीनों ख्यातियों का स्वरूप समान ही है-मिथ्याज्ञान जिस प्रकार

Maha Parivrajaka

उत्पन्न होता है उसके क्रम के निरूपण में अन्तर होने पर भी ***'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'*** इस अध्यासलक्षण का और ***'अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति'*** इस अध्यासस्वरूप का, कोई भी व्याख्या उल्लंघन नहीं करती।

१४. तथा च लोके अनुभवः ''शुक्तिका हि रजतवत् अवभासते'', ''एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्'' इति।

१४. इसी प्रकार लोकव्यवहार में भी यही अनुभव है कि शुक्ति ही रजत के समान अवभासित होती है, जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा और एक के साथ मालूम पड़ता है।

(१४.१) भाष्यकार द्वारा अध्यास के लिये दिये गये ये दो उदाहरण हैं। दोनों में ही स्मरणयोग्य बात यह है कि इनका निरूपण अधिष्ठान के सम्यग्ज्ञान के द्वारा आरोपित धर्म के निराकरण होने के बाद ही किया गया है। शुक्ति की परीक्षा से 'यह रजत नहीं है, शुक्ति है' इतना समझने के बाद भी शुक्ति रजत जैसी ही दिखती रहती है। इसलिये, 'रजत जैसी दिखने वाली शुक्ति'; यह ज्ञान यथार्थज्ञान ही है, अयथार्थ ज्ञान नहीं क्योंकि शुक्ति का ज्ञान स्मृतिरूप रजत को शुक्ति से अलग कर देता है। ***'शुक्तिका हि रजतवत्'***, ***'एकः चन्द्रः सद्वितीयवत्'*** इनमें वत् (सा), अधिष्ठान के सम्यग्ज्ञान द्वारा निराकृत होने वाले अयथार्थज्ञान को ही बतलाता है।

(१४.२) इन दो दृष्टान्तों का अलग-अलग प्रयोजन या स्थान क्या है, यह समझने के लिये पूर्वकथित दोनों प्रकारों के अध्यासों की ओर देखना है। इसीलिये भाष्यकार ने भी 'तद्विपर्ययेण' इस पद का प्रयोग एक बार आरंभ में करके फिर अन्त में दुबारा किया है। पहले अध्यास का कारण है प्रत्यगात्मस्वरूप का अज्ञान। शुद्ध तुरीयात्मा ही प्रत्यगात्मा का स्वरूप है; इस सम्यग्ज्ञान से वह अविकारी तुरीयात्मा, शरीरादि उपाधियों के साथ रहते समय व्यवहार से युक्त दिखने पर भी, उनसे असम्बन्धित अव्यवहार्य ही है, यह समझ में आ जाता है। इसके दृढ़ीकरण के लिये ही शुक्ति-रजत दृष्टान्त है। जिस प्रकार रजत सा दिखायी देने पर भी यह शुक्ति ही है यह सम्यग्ज्ञान है, उसी प्रकार 'क्षेत्रधर्म के साथ दिखायी देने पर भी क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न तुरीय ही है' यह समझना ही सम्यग्ज्ञान है।

दूसरे अध्यास का कारण है जगत्स्वरूप का अज्ञान। क्षेत्रों के द्वारा पुत्रभार्यादि के रूप में हो अथवा सामान्यतः विकारों के द्वारा हो, जगत् में नाना दिखायी देने पर भी जगत् स्वरूपतः अविकार्य तुरीयात्मा है। ***'एतै प्राणादिभिः आत्मनः अपृथग्भूतैः अपृथग्भावैः एषः आत्मा रज्जुरिव सर्पादि विकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितः मूढैः इत्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्ति'***-रज्जु में कल्पित सर्पादि भावों से रज्जु के समान यह आत्मा अपने से अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावों से पृथक् ही है-ऐसा मूर्खों को लक्षित-अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है।

विवेकियों की दृष्टि में तो रज्जु में कल्पित सर्पादि के समान ये प्राणादि आत्मा से भिन्न हैं ही नहीं (मां. का.भा. २.३०)। जो इसको जानता है वह क्षेत्रों के द्वारा पुत्रभार्यादिरूप में नानात्व देखने पर भी अपनी बुद्धि से नानात्व का प्रविलय करके सब में अद्वितीय आत्मा को ही समझता है। यही सर्वात्मभाव है और इसके दृढीकरण के लिये ही द्विचन्द्रदृष्टान्त है ***'एकस्मिन् चन्द्रे तिमिरकृत-अनेकचन्द्रप्रपंचवत् अविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपंचः विद्यया प्रविलापयितव्यः'***-एक चन्द्र में नेत्रदोष से किये गये अनेक चन्द्रों के प्रपंच के समान ब्रह्म में अविद्याकृत नामरूप प्रपंच का विद्या से प्रविलय करना (सू.भा. ३.२.२१)। जिसकी आंखों में मोतियाबिन्द है वही चन्द्र को सद्वितीय देखता है। जिसमें यह दोष नहीं है वह अद्वितीय चन्द्र को ही देखता है। इसी प्रकार, जिसमें अविद्या है वह विकारों के द्वारा जगत् में नानात्व को देखता है; परन्तु जो विद्वान नानात्व का प्रविलय कर चुका है, वह एकत्व को ही समझता है क्योंकि ***'कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव'***–कार्य का आकार भी स्वरूपतः कारण ही है (सु.भा.२.१.१८)। जगत् कार्य है और आत्मा ही उसका कारण है। इसलिये, ज्ञानी जगत् में अद्वितीय स्वयं को ही देखता है।

(१४.३) इस प्रकार शारीरक अर्थात् जीव मीमांसा का प्रयोजन आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति ही है। अर्थात् एक ही आत्मा, अपरा और परा प्रकृतियों द्वारा कार्यदृष्टि में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ इन दो रूपों में दिखने पर भी, परमार्थदृष्टि में वह कूटस्थ, नित्य, व्योमवत् सर्वव्यापी, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त, निरवयव, स्वयंज्योति ही है। वह स्वयं ही यह है–यह सम्यग्ज्ञान प्राप्ति ही आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति है।

(१४.४) अनिर्वचनीय ख्याति

कुछ लोगों द्वारा प्रतिपादित यह एक अन्य ख्याति है। उनका चिन्तन इस प्रकार है:-किसी को शुक्ति में रजत दिखायी देता है। यदि वहाँ रजत होता ही नहीं तो उसका दिख पड़ना असाध्य होता क्योंकि वस्तु न रहने पर भी दिखायी देती है यह सिद्धान्त तो विज्ञानवादी बौद्धों का है। यही नहीं, दिखायी देने वाले उस रजत को पकड़कर उठाने के लिये मानव प्रयत्न भी करता है। अतः, वहाँ रजत होना ही चाहिये। परन्तु शुक्तिपरीक्षण से यह ज्ञान भी होता है कि वहाँ रजत नहीं है। इसलिये, वहाँ एक विशिष्ट रजत है जिसका 'है' या 'नहीं है' इस प्रकार स्पष्ट निर्वचन नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, दार्ष्टान्त में भी प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् सदसद्भ्यामनिर्वचनीय लक्षण वाला है। इनके अनुसार जगत् का स्वभाव यही है।

उपर्युक्त सिद्धान्त भाष्यसम्मत नहीं है, क्योंकि पिछली कण्डिका में ***'प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति न तु तत्र रजतम् अस्ति'***-केवल रजत की प्रतीति ही होती है, वहाँ रजत है नहीं कहकर, शुक्ति में दिखायी देने वाला रजत सुतरां असत् है, रजत का ज्ञान मिथ्याज्ञान है, इतना भाष्यकार ने स्पष्ट किया है। इसलिये, उस रजत का स्पष्ट निर्वचन है 'शुक्ति में न रहनेवाला रजत'। इस भाष्यनिर्वचन के बाद 'मिथ्या रजत-है या नहीं है-इस प्रकार जिसका निर्वचन नहीं हो सकता ऐसा एक विशिष्ट रजत है', इस प्रकार की कल्पना भाष्यसम्मत कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती है। इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, या है

Maha Pariwrajaka

अथवा नहीं है, ये विकल्प वस्तु के बारे में नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि विकल्प पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। किसी भी वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। वह (वस्तु का यथार्थज्ञान) तो वस्तु के ही अधीन है। एक स्थाणु में 'यह स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य कोई है' यह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। वहाँ पुरुष है अथवा और कुछ है यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थज्ञान है क्योंकि वह वस्तु के अधीन है–***'न तु वस्तु एवं नैवम्, अस्ति नास्ति इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रम् एव तत्। नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषो वा अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम् वस्तुतन्त्रत्वात्'*** (सू.भा. १.१.२)। जीवादि पदार्थों में, एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का सम्भव न होने से सत्त्वरूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्त्व का सम्भव न होने से और असत्त्व में सत्त्व का सम्भव न होने से भी यह आर्हत मत असंगत है–***'जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोः धर्मयोः असंभवात्, सत्त्वे च एकस्मिन् धर्मे असत्त्वस्य धर्मान्तरस्य असंभवात्, असत्त्वे च एवं सत्त्वस्य असंभवात् असंगतमिदं अर्हतमतम्'*** (सू.भा. २.२.३३)। इसी कारण से अनिर्वचनीय ख्याति भी असंगत है।

इसलिये, सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्व सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के मिथुन से जन्म ली हुयी अर्थरहितकल्पना ही है, रहने वाली वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं। शुक्ति में देखा हुआ रजत अस्ति भी न होकर, नास्ति भी न होकर कोई तीसरा रजत ही है तो उसका निश्चय सातवें प्रमाण से ही होगा। यदि वह भूतवस्तु है तो उसका होना प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति या आगम प्रमाण में से किसी एक के द्वारा ही निश्चित होता है, क्योंकि जब वह इनमें से किसी एक का भी विषय नहीं होता तभी उस वस्तु का अभाव होता है–***'उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य अनुपलब्धेः अभावो वसत्वन्तरस्य'*** (सू.भा.२.२.१७)। कुछ लोग अभाव को भी विषयरूप से स्वीकार करके उसके ज्ञान के लिये एक और अनुपलब्धि प्रमाण को कहते हैं। यदि यह स्वीकार करते हैं तो भावसंभव के लिये पांच प्रमाण और अभावसंभव के लिये एक प्रमाण हो जाते हैं, अर्थात् कुल छह प्रमाण हो जाते हैं। परन्तु अनिर्वचनीय रजत तो दोनों से ही भिन्न है, इसलिये, उसका संभव होना तो और एक सातवें प्रमाण से ही निश्चित होगा। परन्तु कल्पितवस्तुसंभव के लिये और एक प्रमाण को ढूंढना असाधु है:–***'न अयं साधुः अध्यवसायः यतः प्रमाणप्रवृत्ति–अप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवौ अवधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती'***–यह निश्चय साधु नहीं है क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से संभव का और प्रमाण की अप्रवृत्ति से असम्भव का निश्चय किया जाता है। संभव और असंभव से प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जाता (सू.भा. २.२.२८)।

वे कहेंगे कि सातवां प्रमाण नहीं चाहिये क्योंकि सदसद्भ्यामनिर्वचनीय वस्तु के अस्तित्त्व का निश्चय प्रत्यक्ष, अनुमान, अर्थापत्ति, आगम इन चारों प्रमाणों से होता है। यह गलत है क्योंकि केवल 'अस्ति'

निर्वचन को मिलने वाली वस्तुओं के लिये ही ये प्रमाण होते हैं। अस्ति, नास्ति निर्वाचित न होने वाली वस्तुओं के लिये भी ये चारों प्रमाण होंगे तो इन प्रमाणों में कौन विश्वास रखेगा? इतना ही नहीं, एक प्रमाण से वस्तु का संभव सिद्ध होने के बाद उसके संभव के लिये और एक प्रमाण कोई नहीं चाहता। परन्तु उसके संभव के लिये आपका चार प्रमाणों को बताना सिद्ध करता है कि आपको ही इसके अस्तित्त्व के बारे में संशय है।

उनके लिये और एक प्रश्न है: प्रत्यगात्मा में अध्यस्त जगत् को यदि सदसद्भ्यामनिर्वचनीय कह रहे हैं तो फिर तद्विपर्यय रूप से जगत् में अध्यस्त प्रत्यगात्मा भी क्या सदसद्भ्यामनिर्वचनीय है? क्या प्रत्यगात्मा है या नहीं है ऐसा न कह सकने वाला है? यह कल्पना अत्यन्त अनादरणीय है।

आक्षेप: यह प्रसिद्ध है कि जगत् तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीय है (सू.भा. १.१.५, १.४.३, २.१.१४, २.१.२७)। यहाँ तत् ही सत् और अन्यत् ही असत् है। इसलिये यदि हम कहें कि हम नया कुछ भी नहीं कह रहे हैं तो?

परिहार: भाष्यकार द्वारा कथित तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्व का आपके द्वारा प्रतिपादित सदसद्भ्यामनिर्वचनीयत्व से कुछ भी संबन्ध नहीं है। वह पूरा का पूरा अलग है। भाष्यकार के कार्य-कारण अनन्यत्व में तत् उपादान कारण है और अन्यत् उसका कार्य है। अनन्यत्व इनका सम्बन्ध है-***'कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं'***-कार्य कारणात्मक है परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है (सू.भा. २.१.९)। यह कार्य शुक्ति में देखे गये रजत के समान असत् नहीं बल्कि अनृत है; अर्थात् बदलने वाला है, व्यवहारयोग्य है और रूप बदलते रहने पर भी अपने सत्य कारण से अनन्य है। इसीलिये, एक ही समय में कार्य के विषय में दो दृष्टि रहती हैं, कारणदृष्टि और कार्यदृष्टि। एक ही घट कारणदृष्टि से सत्य (न बदलने वाली) मिट्टी है और कार्यदृष्टि से अनृत (बदलनेवाला) घट है। इसलिये, कार्यघट को भाष्यकार ने तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीय कहा है अर्थात्, ***'तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्व'*** है। परन्तु शुक्ति और उसमें दिखने वाले रजत में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है; अर्थात्, यह रजत अलग-अलग आभूषणों के रूप में खड़ा नहीं हो सकता, तात्पर्य यह है कि वह व्यवहारयोग्य नहीं है। ***'कार्यं त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति'***कार्य का तीनों कालों में कभी भी सत्ता से व्यभिचार नहीं होता (सू.भा.२.१.१६)। परन्तु, शुक्ति में दिखने वाला रजत तो कभी भी नहीं है; जब दिखते समय भी नहीं है तब वह और कब हो सकता है?

१५. कथं पुनः प्रत्यगात्मनि अविषये अध्यासो विषय तद्धर्माणाम्? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति। युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनि अविषयत्वं ब्रवीषि।

१५. अविषय प्रत्यगात्मा में विषय का और विषय के धर्म का अध्यास कैसे हो सकता है? सब लोग पुरोवर्ती विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं। 'तुम' इस प्रत्यय के अयोग्य प्रत्यगात्मा अविषय है ऐसा कहते हो।

(१५.१) ऊपर अध्यास के लक्षण बतलाकर, फिर दो दृष्टान्तों के द्वारा ***'अन्यत्र अन्यधर्माध्यासः'*** कह कर अध्यास का स्वरूप भी समझाया गया। लेकिन, दार्ष्टान्त में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के अध्यास में इनका अन्वय करने पर दो आक्षेप उठ सकते हैं:-

शुक्ति आदि में होनेवाले रजत आदि अध्यासों में शुक्ति आदि तो प्रत्यक्ष वस्तु हैं। इसलिये, उनको देखते समय रजतादि अध्यास हो सकते हैं। परन्तु प्रत्यगात्मा प्राज्ञ तो शुक्ति आदि के समान प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिये, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अध्यास नहीं हो सकता-यह पहला आक्षेप है।

प्रत्यगात्मा तो विषय है ही नहीं, वह तो विषयी है। उसका युष्मत्प्रत्यय अर्थात् विषय से सम्बन्ध है ही नहीं, इसलिये भी अध्यास नहीं हो सकता - यह दूसरा आक्षेप है।

१६. उच्यते। न तावत् एकान्तेन अविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः।

१६. सुनो, यह आत्मा नियमित रूप से अविषय नहीं है क्योंकि वह 'मैं' इस प्रत्यय का विषय होने से और अपरोक्ष होने से प्रत्यगात्मा प्रसिद्ध है।

(१६.१) सिद्धान्ती परिहार करता है:-

यहाँ पहले प्राज्ञ के विषय न होने के कारण अध्यास असंभव है इस दूसरे आक्षेप का समाधान बता रहे हैं। 'प्राज्ञ विषयी है, विषय नहीं है' कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह कभी 'विषय हो ही नहीं सकता'; क्योंकि प्राज्ञ अहंप्रत्यय का विषय तो है ही । ***'बीजावस्थापि न किंचिदवेदिषमिति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'***-जागने के बाद 'मैं कुछ नहीं जाना' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से, बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)। यह सच है कि सुषुप्ति के समय प्राज्ञ अस्मत्प्रत्ययगोचर नहीं है। सुषुप्ति में किसी भी प्रत्यय का प्रवेश नहीं है। वाक्, इन्द्रिय या बुद्धि का विषय बननेवाला कोई भी विकार या व्यवहार वहाँ नहीं है। इसलिये, किसी से यदि पूछा जाये कि 'सुषुप्ति के समय आप कैसे रहते थे?', तो वह यही कहता है कि 'मैं नही जानता'। इन्द्र ने भी कहा:-'उस अवस्था में तो इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है। उस समय तो ये मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें तो मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता- ***नाह खलु अयम् एवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति अयम् अहम् अस्मि इति नो एवमानि भूतानि। विनाशम् एव अपीतो भवति न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि'*** (छा.८.११.१)। इन्द्र तो अत्यन्त मेधावी हैं; इसलिये उन्होंने 'यह कुछ नहीं जानता है' कहकर प्राज्ञ को युष्मत्प्रत्ययगोचर बनाकर ही प्रजापति से प्रश्न किया। लेकिन सामान्य पुरुष तो नींद से उठने के बाद 'मैंने कुछ नहीं जाना' कहता है, अर्थात्, प्राज्ञ को अस्मत्प्रत्ययगोचर बनाकर ही बोलता है। इस प्रकार अस्मत्प्रत्यय के लिये विषय न बनने वाले प्राज्ञ को अस्मत्प्रत्यय का विषय बना देता

Maha Parivrajaka

है। अत: प्राज्ञ मेधावियों के लिये एकान्तेन विषय है, और अमेधावियों के लिये विषयी भी है, न एकान्तेन अविषय भी है। मेधावी हो चाहे अमेधावी हो, प्राज्ञ तो दोनों के अनुभव में है ही। वह अपरोक्ष है। वह प्रत्यक्ष न होकर, परोक्ष न होकर, स्वानुभव को मिलनेवाला है–अर्थात्, प्रत्यगात्मा के रूप में सुप्रसिद्ध है।

प्रश्न: विषयी प्राज्ञ विषय कैसे हो जाता है?

उत्तर: प्राज्ञ स्वयं होने पर भी जीव उसे जानता नहीं है। जीव अपने को जाग्रत् और स्वप्न में होनेवाली ज्ञानक्रिया के द्वारा ही पहचानता है और विषयसुख या विषयवासना के सुख को भोगता है। सुषुप्ति में ज्ञानक्रिया और विषयभोग नहीं रहते, इसलिये उसमें वह अपना विनाश का सा भाव रखता है। विदिक्रिया–भोगक्रियारहित (जानने की और भोगने की क्रिया से रहित) ज्ञातृत्व और आनन्दमयत्व अपना धर्म है, यह न समझकर नींद से उठते ही जीव अपने में बुद्धि का अध्यास करके उस समय 'मैंने कुछ नहीं जाना। मैं सुख से सोया', कहता हुआ अपने को स्वयं विषय करता है। इसका दृष्टान्त:–एक व्यक्ति, जिसकी आँख नष्ट हो चुकी है, वह अपनी आँख की, और देखने की क्रिया की अनुपस्थिति को भी देखता है। अर्थात् वह, जो कि विषयी है, अपनी दृष्टि का आंख में आरोप करके 'मैं अन्धा हूँ, देख नहीं सकता' इस प्रकार कहता है। अत:, जबकि वह विषयी प्राज्ञ है, तो भी, अपने को नहीं जानने के कारण, अपनी अक्रियता के आधार पर (मैं कुछ नहीं जाना) अपने को ही विषय बना देता है। इस तरह, अपने आप को विषय कर देने के कारण, अपने में शरीरादि विषय और उनके धर्मों का अध्यास करने के लिये अवकाश मिल जाता है।

प्रश्न: अध्यास के लिये तो अध्यस्त और अधिष्ठान में सादृश्य आवश्यक है। प्रत्यगात्मा और देहादि में क्या सादृश्य है?

उत्तर: सुख ही सादृश्य है। कैसे? निर्विषयक सुख प्राज्ञ का धर्म है जिसे जीव सुषुप्ति में निरुपाधिक होकर अनुभव करता है। तथा जाग्रत् में भी देहादि के द्वारा सुख का अनुभव होता ही है। इस सादृश्य के कारण ही अध्यास होता है।

अब अगले आक्षेप के उत्तर के रूप में कहते हैं:–

१७. न चायमस्ति नियम: पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरम् अध्यसितव्य-मिति। अप्रत्यक्षेऽपि हि आकाशे बाला: तलमलिनतादि अध्यस्यन्ति।

१७. और ऐसा कोई नियम भी नहीं है कि पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो सकता है। अप्रत्यक्ष होने पर भी आकाश में अविवेकी जन तलमलिनता का अध्यास करते ही हैं।

(१७.१) अधिष्ठान प्रत्यक्ष न होने पर भी अध्यास हो सकता है। उदाहरण के लिये, आकाश का न कोई आकार है न वर्ण, इसलिये वह शुक्ति की तरह प्रत्यक्ष नहीं है। और निरुपाधिक आकाश श्रोत्र का भी

विषय नहीं है। तो भी अविवेकी लोग उसमें नीलवर्ण का और उल्टे कटोरे के आकार का अध्यास करते हैं। आकाश में रहनेवाले धूम, रजादि के कणों से जब सूर्य का प्रकाश टकराकर बिखरता है तो प्रधानरूप से नीलवर्ण ही बिखरता है (मा. का. ३.८)। जैसे नील पुष्प के सम्मुख रखा हुआ निर्वर्ण स्फटिक नीला ही दिखता है, उसी प्रकार बिखरे हुये नीलवर्ण के कारण आकाश भी नीला दिखता है। तब अज्ञानीजन समझते हैं कि आकाश नीला है। आकाश नीला न होने के कारण यह अध्यास है। इसी प्रकार, क्योंकि आकाश का कोई आकार नहीं है, उसे उल्टे कटोरे के समान समझना भी अध्यास ही है।

१८. एवम् अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः।

१८. इस प्रकार प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास भी अविरुद्ध है।

(१८.१) प्रत्यगात्मा में किये हुए अध्यास पर दो आपत्तियाँ थीं, प्रत्यगात्मा विषय नहीं है और प्रत्यक्ष भी नहीं है। इन का परिहार बताकर प्राज्ञ में अनात्मा के अध्यास की साध्यता सिद्ध की गयी। यहाँ अनात्मा का अर्थ है प्राज्ञ से विलक्षण शरीरादि क्षेत्र।

१९. तमेतम् एवं लक्षणं अध्यासं पंडिता अविद्येति मन्यन्ते। तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः। तत्र एवं सति यत्र यदध्यासः तत्कृतेन दोषेण गुणेन वा अणुमात्रेणापि स न संबध्यते।

१९. उक्तलक्षणवाले इस अध्यास को ही पण्डितजन अविद्या मानते हैं, और विवेक करके वस्तुस्वरूप के निर्धारण को 'विद्या' कहते हैं। ऐसा होने पर जिसमें जिसका अध्यास है उसके गुण अथवा दोष के साथ उसका अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता है।

(१९.१) शुक्ति का अज्ञान ही उसमें रजताध्यास का हेतु बनता है। उसी प्रकार सर्वत्र अधिष्ठान का अज्ञान ही अध्यास का हेतु बनता है; अब प्रश्न यह है कि यदि अध्यास अज्ञान का कार्य है तो फिर यहाँ अध्यास को ही अविद्या कैसे कहा है?

जैसे पागलपन के कार्य को पागलपन ही कहते हैं, उसी प्रकार कार्य को कारण शब्द से ही कहना रुढ़ि है। इस अर्थ में ही अध्यास को अविद्या कहा है। यहाँ कारण का अर्थ निमित्त या उपादान नहीं बल्कि हेतु अर्थ है। अधिष्ठान का अज्ञानरूप हेतु, किसी सादृश्य के आधार पर, अधिष्ठान में और किसी का अध्यास करता है। अधिष्ठान के स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है–अर्थात्, अधिष्ठान के स्वरूपज्ञान का अभाव है। अधिष्ठान के ज्ञान से यह अज्ञान नष्ट होता है। भाष्यकार इसको ऐसे समझाते हैं– ***'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'***–यदि ज्ञानाभाव को, संशयज्ञान को अथवा विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा जाये तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से

ही हो सकती है (बृ. भा.३.३.१)। यहाँ ज्ञानाभाव अज्ञान शब्द का वाच्यार्थ है और ज्ञानविरोधी उसका लक्ष्यार्थ है। अज्ञान और अविद्या एक ही हैं और विद्याप्रतियोगी ही अविद्या है, ***'भाव प्रतियोगी हि अभाव:'*** (तै.भाष्य अवतरणिका)।

(१९.२) वस्तुस्वरूप का निश्चय ही विद्या है। यहाँ वस्तु क्या है? अध्यास का अधिष्ठान है। पहले अध्यास में प्राज्ञ अधिष्ठान है और तद्विपर्ययाध्यास में जगत् अधिष्ठान है। ये दोनों स्वरूप में एक ही आत्मा हैं। यहाँ कही हुयी वस्तु वही आत्मा है। जगत् और प्राज्ञ, अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ये एक ही आत्मा के दो रूप हैं। क्षेत्रज्ञ द्वारा शुद्धात्मा में किये हुये ये दो अध्यस्त रूप नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा में अध्यास करना असाध्य है। इसकी चर्चा बाद में करेंगे। ये दोनों आत्मा के ही स्वेच्छा से, क्षेत्र के भोग और अपवर्ग के लिये, लिये हुये रूप हैं। क्षेत्र कार्यरूप है और क्षेत्रज्ञ अकार्यरूप है। मिट्टी जैसे घटाकार लेती है, उसी प्रकार विकारों के द्वारा दिख पड़ने वाली आत्मा ही क्षेत्र है। घटाकार द्वारा दिखायी देने पर भी जैसे वह मिट्टी ही है, उसी प्रकार, कार्यरूपी क्षेत्र भी आत्मा ही है तथा प्राणोपाधि द्वारा दिखायी देनेवाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है। वर्णपुष्पोपाधि द्वारा सवर्ण दिखने पर भी जैसे स्फटिक निर्वर्ण ही है, वैसे ही सोपाधिक दिखने पर भी क्षेत्रज्ञ निरुपाधिक आत्मा ही है। अपनी अविद्या के कारण क्षेत्रज्ञ अपने से विलक्षण क्षेत्र का अपने में अध्यास करता है, जो कि जाग्रत्-स्वप्न व्यवहार में स्पष्ट दिखायी देता है। सुषुप्ति में क्षेत्र का सम्बन्ध नहीं रहता इसलिये उस समय अध्यास भी नहीं होता क्योंकि बुद्धिसम्बन्ध नहीं रहता।

'सुषुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नस्सन् संयक् प्रसीदतीति जाग्रत्स्वप्नयो: विषयेन्द्रिय संयोग जातं कालुष्यं जहाति'-सुषुप्तकाल में अपने आत्मा सत् से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है अत: वह जाग्रत तथा स्वप्न के विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त हुई कालिमा को त्याग देता है (छा.भा. ८.३.४)। परन्तु 'स्वयं आत्मा ही है' इसका अग्रहण तो रहता ही है। वस्तुस्वरूपावधारण में एकमात्र बाधा यही है। ***'तत्त्व अप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्'*** (मां.का.भा. १.११) शास्त्रवाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से स्वयं को आत्मा समझने के समकाल में ही प्राज्ञत्व भी नष्ट हो जाता है। यही यहाँ कही गयी वस्तुस्वरूपावधारण विद्या है।

प्रश्न: 'क्षेत्र संबंध न रखने वाले क्षेत्रज्ञ में स्वरूप का अग्रहण कैसे रह सकता है? वह अग्रहण तो क्षेत्रधर्म है न?'

उत्तर: यह ठीक है। ***'अग्रहण विपरीत संशय प्रत्यया: तन्निमित्ता: करणस्य एव कस्यचिद् भवितुम् अर्हन्ति न ज्ञातु: क्षेत्रज्ञस्य'*** - अग्रहण, विपरीतग्रहण और संशय के प्रत्यय और उनके कारण ये सब किसी-न-किसी करण के ही धर्म हैं, ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं (गी.भा. १३.२)। उतना ही नहीं। इन तीनों का नाशक विद्याप्रत्यय भी क्षेत्रधर्म ही है (गी.भा. २.२१) वह मन से प्राप्त होने वाला है— ***'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'*** (बृ. ४.४.१६) तो भी जाग्रत्स्वप्नों में रहने वाले अध्यास को देखकर, जब अन्त:करण उपशान्त है उस सुषप्ति में भी क्षेत्रज्ञ के अग्रहण को मानना पड़ेगा।

प्रश्नः 'इसका अर्थ क्या ऐसा हो सकता है कि जब सामने वाली वस्तु नहीं दिख पड़ती तब 'मैं अन्धा हूँ' इस प्रकार जैसे निश्चय करता हूँ, उसी प्रकार दुःख से जब स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं कर सकता हूँ तब निश्चय होता है कि अग्रहण मेरा धर्म है?'

उत्तरः ऐसा नहीं। वस्तु को देखने में ही आप व्यस्त रहने के कारण उसी समय अपने-आप पर भी नजर रख कर निश्चय नहीं किया जा सकता कि आप अन्धे हैं। 'वस्तु न दीख पड़ने पर मेरा अन्धत्व अनुमान से निश्चय होगा।' ऐसा भी नहीं होगा। क्योंकि अनुमान करते समय आपकी आंख को देखने में आप व्यस्त रहेंगे। आपके अन्धत्व का निश्चय करते समय आप मन को देखने में व्यस्त रहेंगे। आपके अन्धत्व का निश्चय नहीं किया जा सकता। अनुमान से निश्चय करने में इस प्रकार का अनवस्था दोष रहेगा ही। इसके परिहार के लिये स्वीकार करना पड़ेगा कि आप कुछ न कुछ देखते ही रहते हैं, दृष्टि आपका धर्म है। इसलिये आप कभी भी अन्धे नहीं होंगे। उसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी अग्रहण आपका धर्म नहीं हो सकता, वह करणधर्म ही है। [इसका विस्तृत वर्णन अध्यासभाष्य के अन्त में टिप्पणी में देखें।]

(१९.३) आगे यह बताते हैं कि जैसे शुक्ति अध्यस्तरजत से अदूषित ही रहती है, उसी प्रकार अनात्मा के अध्यास से प्रत्यगात्मस्वरूप अणुमात्र भी दूषित नहीं होता। अर्थात् अनात्मा के अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व आदि दोष प्रत्यगात्मा का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं करते। तद्विपरीत प्रत्यगात्मा के धर्मों का अनात्म बुद्धिविषयों में अध्यास करने पर उन विषयों को आत्मधर्म प्राप्त नहीं हो जाते। अर्थात्, प्रत्यगात्मा के ज्ञान और आनन्द आदि गुणों का अणुमात्र भी उनसे सम्बन्ध नहीं होता।

२०. तमेतम् अविद्याख्यम् आत्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि। कथं पुनः अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च इति? उच्यते। देहेन्द्रियादिषु अहं-ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्त्यनुपपत्तेः। न हि इन्द्रियाणि अनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। न च अधिष्ठानमन्तरेण इन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। न च अनध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चित् व्याप्रियते। न च एतस्मिन् सर्वस्मिन् असति असंगस्य आत्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। तस्मात् अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।

२०. आत्मा और अनात्मा के अविद्या नामक उक्त परस्परअध्यास को आधार करके सब लौकिक और वैदिक प्रमाण–प्रमेय का व्यवहार प्रवृत्त हुआ है और सब विधि–निषेधबोधक एवं मोक्षपरक शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र किस अर्थ में अविद्यावान् के लिये विषय हैं? इस पर कहते हैं–देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' और 'मेरा' के अभिमान से रहित पुरुष का

प्रमातृत्व असिद्ध होने पर प्रमाताके अनुपपन्न होने से प्रमाण की प्रवृत्ति भी अनुपपन्न होती है, इसलिये इन्द्रियों का ग्रहण किए बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं है और अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं है। जिसमें आत्मभाव अध्यस्त नहीं है, उस शरीर से कोई व्यापार नहीं कर सकता। और ये सब अध्यास न हों, तो असंग आत्मा प्रमाता नहीं हो सकता और प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र का आश्रय अविद्यावान् पुरुष ही हैं।

(२०.१) इस परिच्छेद का उद्देश्य यह समझाना है कि सम्पूर्ण व्यवहार अध्यास के आधार पर ही होता है। किस में किस का अध्यास? ***आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासः।*** यहाँ स्पष्ट है कि आत्मा क्षेत्रज्ञ है और अनात्मा क्षेत्र है। ***आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मानि गवादि शब्दवन् निरूढत्वात्***- गवादि शब्द के समान उपपदरहित आत्मशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा में निरूढ है (छां. भा. ६.८.७)। आत्मानात्म विवेक इत्यादि प्रयोगों में भी यही अर्थ होता है। आत्मा का शब्दार्थ शुद्धात्मा नहीं हो सकता। क्योंकि वह सर्वात्म होने से अनात्म है ही नहीं। सब व्यवहार या तो किसी अप्रिय को छोड़ने के लिये होते हैं (हान), या फिर प्रिय को प्राप्त करने के लिये होते हैं (उपादान)। ये इच्छाएँ जिसमें नहीं होतीं वह व्यवहार ही नहीं करता। व्यवहार करने से पहले क्या हेय है और क्या उपादेय इसका निश्चय प्रमाण से ही होता है। प्रमाण से प्रमेय का निश्चय करने वाला ही प्रमाता होता है। प्रमातृत्व अध्यास से ही पैदा होता है। कैसे? इस प्रकार:-'मैंने देखा, मैंने सुना, मैंने निश्चय किया' इत्यादि से जो करणक्रिया का अपने में अध्यास करता है वही प्रमाता है। अर्थात् प्रमाता वही हो सकता है जो देह इन्द्रिय बुद्धि में 'मैं' ऐसा अभिमान रखता है। क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र में यह अभिमान ही अध्यास है-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग है, और यही सर्वव्यवहार का आधार भी है। इसीलिये, सब व्यवहार आविद्यक हैं; अर्थात्, अविद्यावान् के ही विषय हैं यह निश्चित हो जाता है। आगे पशुओं के व्यवहार से सादृश्य दिखाकर ये दृढ़ करते हैं कि मनुष्यों का व्यवहार भी आविद्यक ही है।

२१. पश्वादिभिश्च अविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति शब्दादि विज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते, अनुकूले च प्रवर्तन्ते। यथा दंडोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छति इति पलायितुमारभन्ते। हरिततृण पूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीन् आक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवतः उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते। अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेय व्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धः अविवेकपुरस्सरः प्रत्यक्षादि व्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनात् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारः तत्कालः समानः इति निश्चीयते।

२१. और पशु आदि के व्यवहार से विद्वान् के व्यवहार में विशेषता नहीं है। जैसे पशु आदि शब्द आदि का श्रोत्र आदि के साथ सम्बन्ध होने पर शब्द आदि का ज्ञान प्रतिकूल हो तो उससे निवृत्त होते हैं, और अनुकूल हो तो उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। जैसे किसी पुरुष को हाथ में दण्ड उठाए हुए देखकर, 'यह मुझे मारना चाहता है' ऐसा समझकर भागने लगते हैं, यदि उसके हाथ में हरी घास होती है तो उसके संमुख हो जाते हैं। इसी प्रकार विवेकी पुरुष भी, क्रूरदृष्टिवाले, हाथ में खड्ग उठाये हुए, चिल्लाते हुए बलवान् पुरुषों को देखते हैं तो उनसे हट जाते हैं और उनसे विपरीत पुरुषों की ओर प्रवृत्त होते हैं। इसलिए पुरुषों का प्रमाण और प्रमेय व्यवहार पशु आदि के समान ही व्यवहार है। और पशु आदि का प्रत्यक्ष व्यवहार अविवेकपूर्वक है, यह प्रसिद्ध ही है। पशु आदि के साथ सादृश्य दिखाई देता है, इसलिए विवेकी पुरुषों का भी प्रत्यक्ष आदि व्यवहार तत्काल में (व्यवहारकाल में) समान है ऐसा निश्चय होता है।

(२१.१) प्रश्नः सभी व्यवहार यदि आविद्यक ही होते हैं तो ज्ञानी में जो व्यवहार दिखायी देता है, वह कैसे होता है?

उत्तरः प्रकृति से होता है।'समस्त कार्य, करण और विषयों के आकार में परिणत होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देहेन्द्रियादि के आकारों द्वारा मूर्तिमान् होती हैं–***प्रकृतिः च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरण विषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते'*** (गीता.भा. अध्याय १३ का सम्बन्धभाष्य)।

'भौतिक करणों की सृष्टि विषयों की सृष्टि के साथ-साथ ही होती है। ***यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततः भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्याम् एव एषाम् उत्पत्तिप्रलयौ भवतः'*** (सू.भा. २.३.१५)। कुछ लोगों की कल्पना है कि करण तन्मात्राओं से बनें हैं। यह ठीक नहीं है। तन्मात्रा प्रकृतिकोटि में आते हैं, लेकिन करण त्रिवृत्कृतभौतिकविकृति हैं–करण विषय के समानजातीय ही हैं जात्यन्तर नहीं– ***विषयसमान-जातीयं करणं, न तु जात्यन्तरम्।*** (बृ.भा.२.४.११) और इसलिये ही करण अपने-अपने विषयों को ग्रहण भी कर पाते हैं। अनृत रूप और अनृत नेत्र के सन्निकर्ष से अनृत बुद्धि में रूप का अनृत प्रत्यय पैदा होता है। शब्दादि प्रत्यय भी इसी प्रकार जन्म लेते हैं। यह प्रकृति का कार्य है पुरुष का नहीं। प्रकृतिस्थ पुरुष, यानी जो प्रकृति को स्वयं समझता है–अर्थात् अविद्यावान् पुरुष–अपने को प्रमाता मानता है। लेकिन ज्ञानी, 'इन्द्रियां इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त होती हैं' इस प्रकार समझकर ***'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्'***-(गीता ५.९) साक्षीरूप से रहता है। अर्थात् उसमें कर्तृत्वरहित व्यवहार चलता है।'ऐसा पुरुष, लोकव्यवहार की साधारण दृष्टि से तो सांसारिक पुरुषों द्वारा आरोपित किये हुये कर्तापन के अनुसार भिक्षाटन आदि कर्मों का कर्ता होता है। परन्तु शास्त्रप्रमाणजनित अपने अनुभव से तो वह अकर्ता ही होता

Maha Parivrajaka

है–*लोकव्यवहार- सामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणजनितेन अकर्ता एव'* (गी.भा. ४.२२)।

(२१.२) इस प्रकार निश्चित होता है कि कर्म बने रहने का कारण प्रकृति है। अब यह बताना है कि विद्वान में कर्मारंभ के लिये करणों में प्रवृत्ति कैसे आती है। प्रवृत्ति प्रारब्ध से आती है। 'शरीरारम्भक कर्मों का फल निश्चित होने के कारण, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाणादि की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान है–*शरीरारम्भकस्य कर्मणः नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणः बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादि प्रवृत्तिवत्'* (बृ.भा.१.४.७)।

(२१.३) प्रश्न: यह सिद्ध है कि प्रवृत्ति अविद्या से पैदा होती है। इसलिये इतनी सी भी प्रवृत्ति जो ज्ञानी में दिखायी देती है, क्या उसके लिये अविद्यालेश को स्वीकार करना पड़ेगा?

उत्तर: नहीं, ऐसा मत कहना। ज्ञानी में अन्य लोगों के समान जो प्रवृत्ति दिखलायी देती है, वह उसके करणों में पैदा होती है, उसमें नहीं। प्रारब्धकर्म का वेग जबतक रहता है, अर्थात् जबतक शरीरपात नहीं होता, तब तक व्यवहार, जो कि क्षेत्रधर्म है, चलता ही रहता है। उसको देखकर यह अटकल लगाना कि 'इसमें कितना आत्मज्ञान है?' अर्थहीन है क्योंकि 'एक पुरुष को अपने हृदय से ही जिसकी प्रतीति होती है, ऐसे ब्रह्मज्ञान और देहधारण का अन्य पुरुष द्वारा आक्षेप कैसे किया जा सकता है? श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के निर्देश से भी यही कहा जाता है–*कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेन एतदेव निरुच्यते'* (सू.भा. ४.१.१५)।

(२१.४) इस प्रकार व्यवहार में, चाहे वह ज्ञानी का हो चाहे अज्ञानी का, प्रवृत्ति और प्रकृति दोनों रहती ही हैं। अब किसकी भूमिका क्या है? कितनी है? यह निश्चय करने के लिये चर्चा को आगे बढ़ाते हैं। प्रवृत्ति कर्मारभं के लिये हेतु है और कर्म होने के लिये प्रकृति कारण है। अर्थात् कर्म के लिये प्रवृत्ति निमित्त है और प्रकृति उपादान। 'मुझे यह कर्म करना है' इस प्रकार प्रवृत्ति को पैदा करके फिर कर्म समाप्ति के बाद 'मैंने यह कर्म किया' इस कर्तृत्व को अविद्या पैदा करती है । लेकिन कर्म होते समय अविद्या कारण नहीं हो सकती, क्योंकि कार्य तो प्रकृति से ही होता है–*'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कार विमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते'* (गीता ३.२७)। इसलिये साधक को पहले शास्त्र से यह निश्चय करना होता है कि कौन सा कर्म करने योग्य है–*'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'* (गीता. १६.२४)। फिर शास्त्रानुसार उस कर्म के लिये निमित्तमात्र होना होता है

Maha Parivrajaka

(*निमित्तमात्रं भव*, गीता ११.३३); फल में निरासक्त होना होता है (*मा कर्मफल हेतुर्भूः*, गी. २.४७)। इससे चित्त शुद्ध होकर फिर विद्याप्राप्ति के लिये रास्ता बनता है।

(२१.५) इस प्रकार सम्पूर्ण व्यवहार के लिये, अविद्या और प्रकृति, ये दोनों मिलकर ही कारण होते हैं। इस युग्म को भाष्यकार ने ईश्वरव्यवहार के सम्बन्ध में अविद्यासंयुक्त प्रकृति (गी.भा. ७.४) और जीव और ईश्वर–दोनों के सम्बन्ध में अविद्यालक्षणा प्रकृति (गी.भा. ५.१४, १३.२१, १३.२३, १३.३४, के. भा. १.१४) कहा है। अविद्या न होने के कारण ईश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये; ***'अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'***–इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नामरूपों को रचता हूँ (छा. ६.३.२) कहकर, जीव के द्वारा प्रवृत्ति को प्राप्त करके ईश्वर जगत्व्यवहार चलाता है। यही है ईश्वर का अहंकार ***'अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्'*** (गी.भा. ७.४)। प्रसंगवशात् इस विवरण से अविद्या-प्रकृति का अपर्यायत्व निश्चिय हो जाता है।

यहाँ तक लौकिक व्यवहार आविद्यक है यह निश्चय किया गया। परन्तु वैदिक व्यवहार इससे विलक्षण है क्योंकि उसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का पृथक्त्व अन्तर्निहित होता है। अब आगे के परिच्छेद में यह दिखलायेंगे कि इस प्रकार विलक्षण होने पर भी, वैदिक व्यवहार भी आविद्यक ही है।

२२. शास्त्रीये तु व्यवहारे यद्यपि बुद्धिपूर्वकारी न अविदित्वा आत्मनः परलोक-संबंधम् अधिक्रियते, तथापि न वेदान्तवेद्यम् अशनायाद्यतीतम् अपेत ब्रह्मक्षत्रादिभेदम् असंसारी आत्मतत्त्वम् अधिकारे अपेक्ष्यते। अनुपयोगात् अधिकारविरोधाच्च। प्राक्च तथा भूतात्मविज्ञानात् प्रवर्तमानं शास्त्रम् अविद्यावद्विषयत्वं नातिवर्तते। तथा हि ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादीनि शास्त्राणि आत्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादि विशेषाध्यासम् आश्रित्य प्रवर्तन्ते।

२२. शास्त्रीय व्यवहार में तो परलोक के साथ आत्मा का सम्बन्ध जाने बिना यद्यपि विवेकी पुरुष अधिकृत नहीं होता, तो भी जिस आत्मतत्त्व का ज्ञान वेदान्त से प्राप्त होता है, जिसका क्षुधा आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद नहीं है, ऐसे असंसारी आत्मतत्त्व की कर्माधिकार में अपेक्षा नहीं है; क्योंकि उसमें आत्मतत्त्व का अनुपयोग है और अधिकार का विरोध भी है। इस प्रकार के आत्मज्ञान के पूर्व में प्रवर्तमान शास्त्र अविद्यावान् का ही आश्रय करता है। जैसे कि– 'ब्राह्मण को यज्ञ करना चाहिए' आदि शास्त्र आत्मा में वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था आदि का अध्यास करके ही प्रवृत्त होते हैं।

(२२.१) यह स्पष्ट है कि गृहकामना, स्त्रीकामना आदि से प्रेरित होकर किये गये लौकिक कर्म

Maha Parivrajaka

देहाध्यास पर ही आधारित होते हैं। लेकिन वैदिक कर्मों के विषय में ऐसा नहीं है, उनमें कुछ अन्तर है। स्वर्गादि की कामना से प्रेरित होकर ज्योतिष्टोमादि श्रौतकर्म हो या पितृलोक की कामना से किये गये श्राद्ध, तर्पणादि स्मार्तकर्म हो, इन सभी का आधार शरीर से पृथकत्व में अपना विश्वास ही है। यह विश्वास तो शास्त्राधारित ही है, परन्तु सुषुप्ति में शरीर से अपना पृथकत्व अनुभवसिद्ध है। यह अनुभव होने पर भी जैसे जागने पर देहाध्यास होता ही है, उसी प्रकार शरीर से पृथकत्व में विश्वास रखने वालों को भी देहाध्यास रहता ही है। ऐसे देखा जाय तो इस वर्तमान शरीर से अधिक शोभायमान एक अन्य शरीर और कहीं पाने की इच्छा ही वैदिक कर्म का आधार है।

बुद्धिपूर्वकारी, अर्थात् परलोक से अपना सम्बन्ध जानकर श्रौतस्मार्त कर्म करनेवाला। ऐसे लोगों के लिए कब, कौन सा कर्म करना है, यह शास्त्र विधान करता है। शास्त्रीय कर्म का अधिकारी कौन है? ***'अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्तः'***–उसी कर्म के फल का इच्छुक, उस कर्म को करने में समर्थ, कर्म के स्वरूप को जानने वाला विद्वान् जो शास्त्र द्वारा उस कर्म के लिये निषिद्ध नहीं किया गया है, वही अधिकारी है। इसलिये वैदिक कर्म ब्राह्मणादि वर्ण, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, वय, अवस्था इत्यादि के आधार पर ही निश्चित होते हैं। उदाहरण के लिये, ब्राह्मण राजसूय यज्ञ का अधिकारी नहीं है, और विधुर तो किसी भी यज्ञ का अधिकारी नहीं है इत्यादि। इसलिये वैदिक कर्म भी आविद्यक ही हैं, ज्ञानी के लिये नहीं हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। सच कहें तो आत्मविद्या का कर्म में कोई उपयोग नहीं है और आत्मज्ञानी कर्म का अधिकारी भी नहीं है। 'उपनिषदों से ही समझ में आने वाला, क्षुधादि देहधर्मों से परे ब्रह्मक्षत्रादि भेदों से रहित, संसार से असम्बन्धित आत्मा वह स्वयं ही है' इस विद्याप्राप्ति से पहले ही कर्म में अर्थ है, बाद में नहीं। यह समझने के लिये प्राज्ञ के लक्षणों का स्मरण करना ही पर्याप्त है। प्राज्ञ में करण नहीं, गमनागमन नहीं, वह निरतिशय आनन्द से पूर्ण है। वह कर्म कैसे कर सकता है? और क्यों करेगा? इस प्रकार, जब प्राज्ञत्व में स्थित होने पर ही कर्म छूट रहा है, तो जो उसके भी साक्षी आत्मा में स्थित है, उसे कर्मसम्बन्ध कैसे रह सकता है? सुतराम् नहीं रहता।

(२२.२) अब निष्काम कर्म का विषय लिया जाता है:–सकाम कर्म बुद्धि को अध्यास में और दृढ़ करते हैं; तद्विरुद्ध निष्काम कर्म अविद्या के नाश में सहायता करते हैं। फलासक्ति रहित और ईश्वर प्रीत्यर्थ ही होने के कारण निष्काम कर्म आत्मविद्या के लिये अत्यन्त आवश्यक ईश्वरानुग्रह उत्पन्न करते हैं। इसलिये शास्त्र आरुरुक्षु के लिये निष्काम कर्म का विधान करता है। इससे वैराग्य की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् शास्त्र आरूढ़ के लिये अंतरंग साधना के रूप में ध्यानकर्म की विधि करता है। ध्यान, कर्म होने पर भी, बुद्धि को निर्मल स्वच्छ सूक्ष्म करता है, जिससे विद्याप्राप्ति के लिये मार्ग बन जाता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि किसी भी कर्म का विधान अविद्वान् के लिये ही है, ज्ञानी के लिये नहीं।

२३. अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः इत्यवोचाम। तद्यथा पुत्रभार्यादिषु विकलेषु

सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वा इति बाह्य धर्मान् आत्मनि अध्यस्यति। तथा देहधर्मान् स्थूलोऽहम् कृशोऽहम् गौरोऽहम् तिष्ठामि गच्छामि लंघयामि च इति। तथा इंद्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीबः बधिरः अन्धोऽहम् इति। तथा अन्तःकरण धर्मान् काम संकल्प विचिकित्सा अध्यवसायादीन्। एवम् अहंप्रत्ययिनम् अशेषस्वप्रचारसाक्षिणि प्रत्यगात्मनि अध्यस्य तं च प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेण अन्तःकरणादिषु अध्यस्यति।

२३. 'जिसमें जो नहीं है, उसमें वह है' ऐसी बुद्धि अध्यास है। यह पहले बतला चुके हैं। वह अध्यास इस प्रकार है–पुत्र, भार्या आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, ऐसा बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार आत्मा में देह के धर्मों का अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं मोटा हूँ', 'मैं कृश हूँ' 'मैं गोरा हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जाता हूँ, 'मै लांघता हूँ'। इसी प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करके कहते हैं कि 'मैं गूगां हूँ', मैं काना हूँ', 'मैं नपुंसक हूँ,'मैं बहरा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ'। इसी प्रकार काम, संकल्प, सशंय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का आत्मा में अध्यास करते हैं। एवं ('मैं' ऐसा ज्ञान रखने वाला) अहंप्रत्ययी का–सब वृत्तियों के साक्षी प्रत्यगात्मा में–अध्यास करते हैं और इसके विपरीत उस सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास करते हैं।

(२३.१) अध्यास की चर्चा का उपसंहार करते हुये यहाँ क्रम से बाहर के युष्मत्प्रत्ययगोचर पुत्रभार्यादि से आरंभ करके आन्तरिक प्राज्ञ तक किया हुआ अध्यासवैविध्य वर्णित है। यहाँ याद रखने की बात यह है कि जगत् को ही अध्यस्त नहीं कहा है। और इस कंडिका में अध्यासक कौन है, अधिष्ठान क्या है–इनको स्पष्ट कर रहे हैं। 'इस प्रकार अध्यास करनेवाला कौन है?' अहंप्रत्ययी। 'किसमें अध्यास कर रहा है?' प्रत्यगात्मा में । 'ये दोनों कौन हैं?' 'अहंप्रत्ययी अहंकार है, शुद्धात्मा ही प्रत्यगात्मा है', ऐसी कल्पना करके लोग इन कल्पनाओं के समर्थन के लिये छल से विचित्र तर्कों को प्रस्तुत करते हैं, फिर भी भाष्यवाक्यों से समन्वय नहीं होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये कल्पनाएं गलत हैं। अहंप्रत्यय का अन्तःकरण में उत्पन्न होना सच होने पर भी अन्तःकरण ही अहंप्रत्ययी नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। तो अहंप्रत्ययी कौन है? ***'अतस्मिन् तत् बुद्धिः अध्यासः'***–वह जो नहीं है उसमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है। यह मिथ्याप्रत्यय है जो बुद्धि (अन्तःकरण) में पैदा होता है। इस प्रत्यय से जुड़ा हुआ अन्तः करण जिसकी उपाधि है वह क्षेत्रज्ञ ही अहंप्रत्ययी है। सारे प्रत्यय जाग्रत् में ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये वह 'बहिष्प्रज्ञ' है। ये ही है, जो अध्यास कर रहा है। 'किसमें?' अशेष स्वप्रचारसाक्षी प्रत्यगात्मा में। 'स्वप्रचार क्या है?' मिथ्याप्रत्यय बिना रोक-टोक के अन्तःकरण में संचार करते रहते हैं। यह संचार ही प्रचार है। अहंप्रत्ययी अन्तःकरण को स्वयं समझता है। इसलिये, बहिष्प्रज्ञ की यह कामसंकल्पविचिकित्सा ही

स्वप्रचार है। प्रत्यगात्मा, जोकि इसका साक्षी है, उसे आत्मा कहना गलत है क्योंकि साक्षित्व साक्षी से भिन्न विषय की अपेक्षा रखता है। परन्तु आत्मा से भिन्न तो कुछ भी नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है। इसलिये, स्वरूप में आत्मा साक्षी नहीं है। इतना ही नहीं, बाह्य पुत्रभार्यादि से आंरभ करके, क्रम से देह, इन्द्रियाँ अन्तःकरण को बताकर 'उनका साक्षी प्रत्यगात्मा है', इस प्रकार भाष्यकार जब समझा रहे हैं, तब, मध्य में स्थित प्राज्ञ को छोड़कर झट से शुद्धात्मा की ओर कूदना असमजंस ही है। प्राज्ञ ही साक्षी है, अर्थात् बहिष्प्रज्ञ प्राज्ञ में अपना अध्यास कर रहा है। 'कैसे कर रहा है?' 'मैं सब कुछ जाननेवाला ज्ञाता हूँ। मैं ही प्राज्ञ हूँ। लेकिन सुषुप्ति के समय अन्तःकरण नहीं था। इसलिये मैं कुछ नहीं जान पाया' इस प्रकार कहकर अध्यास करता है। अगर वह अपनी इच्छा से करणसम्बन्ध को छोड़ कर सोया होता तो प्राज्ञ ज्ञाता हो सकता था। परन्तु ऐसा नहीं है। प्राज्ञ का स्पर्श भी करने में असमर्थ करण स्वयं शान्त हो जाते हैं। इसलिये बहिष्प्रज्ञ का प्राज्ञ को ज्ञातृत्व कहना उचित नहीं है। 'तो फिर शास्त्र यह ज्ञातृत्व कैसे कहता है?' अविद्या के कारण बहिष्प्रज्ञ का उसमें (प्राज्ञ में) किये हुये अध्यास का अनुवाद करके कहता है। प्राज्ञ आत्मा ही है परन्तु इस एकत्व ज्ञान के लिये अविद्या अड़चन है। अविद्या के कारण ही ज्ञानक्रियारहित ज्ञातृत्व उसमें अध्यस्त है। 'ज्ञाता में समझने की क्षमता रूपी ज्ञान तो हमेशा रहता ही है। फिर भी, सुषुप्ति में कुछ नहीं जानने का कारण क्या अन्तःकरण की अनुपस्थिति है? या और कुछ है?' इस प्रकार यदि अर्थापत्ति से विचार किया होता तो शास्त्र के सहारे ज्ञातृत्व से परे आत्मैकत्व की प्राप्ति हुयी होती। परन्तु अध्यास में ही आनन्द देखने वाले मूर्ख को विचार करने के लिये चित्त का समाधान कहां से आयेगा?

अध्यास का स्वरूप समझाने के बाद अब यहाँ विद्या का स्वरूप दिखा रहे हैं–

२४. एवम् अयम् अनादिरनन्तो नैसर्गिको अध्यासःमिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सकललोकप्रत्यक्षः। अस्य अनर्थ हेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते। यथा च अयमर्थः सर्वेषां वेदान्तानाम्, तथा वयम् अस्यां शारीरक-मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

२४. इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानस्वरूप और कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करनेवाला यह अध्यास सब लोगों के प्रत्यक्ष है। इस अनर्थ के हेतु (अध्यास का) नाश करने वाली आत्मैकत्व विद्या की प्रतिपत्ति के लिए सब वेदान्त आरम्भ किए जाते हैं। सब वेदान्तों का जो यही अर्थ है, उसको हम इस शारीरक मीमांसा में दिखायेंगे।

(२४.१) यहाँ अध्यास को अनादि कहा है। कैसे? सुषुप्ति के स्वानुभव के आधार पर जब हम जाग्रत् व्यवहार में रहनेवाले अध्यास को समझाते हैं, तब तुरन्त ही स्पष्ट रूप से वह अध्यास समझ में आ जाता है। इसलिये अध्यास के लिये अनुभव ही प्रमाण है। अध्यास के कारण ही कर्म होता है और कर्म से

ही जन्म होता है। इसलिये, हमारे वर्तमान जन्म के लिये गतजन्मों के कर्म ही कारण हैं; और गतजन्मों के कर्म अध्यास के कारण ही हुये हैं। इस प्रकार, हम कितने ही जन्म पीछे क्यों न चले जायें, अध्यास का अस्तित्त्व सिद्ध होता ही है। अतः अध्यास प्रमाणसिद्ध और अनादि है। 'अध्यास अनन्त कैसे है? आत्मैकत्व विद्या से तो उसका नाश हो ही जाता है न ?' ऐसा पूछने पर कुछ लोग कहते हैं 'अनन्त का अर्थ है ज्ञान आने तक'। यह सही नहीं है। एक की अविद्या का नाश होने पर भी बाकी लोगों में अविद्या रहती ही है, इसलिये वह अनन्त है। 'जब सबको ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, तब तो अविद्या का अन्त हो जायेगा न?' नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा क्योंकि जीव असंख्य हैं। ***'अयं वे दश च सहस्राणि बहूनि च प्राणि भेदस्य आनन्त्यात्'***– वही दस, सहस्र, बहु, अनन्तरूप है, क्योंकि प्राणि विशेष अनन्त हैं। (बृ. भा. २.५.१९) ***'शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्'***–सौ, हजार, दस हज़ार, न्यर्बुद, असंख्यजीव इसमें छिपे हुये हैं (अथर्वसंहिता १०.८.२४) ऐसा श्रुति कहती है। इसलिये, कितने भी मुक्त हो जायें, अमुक्त जन रहेंगे ही । 'समस्त जीवों को परिमित समय में मुक्ति मिले तो'? यह नहीं हो सकता। यह साध्य रहा होता तो अब तक बीते अनन्त काल में ही यह हो गया होता। इस प्रकार, हमेशा रहने वाले अविद्यायुक्त जीवों के लिये ईश्वर जन्म देता ही रहेगा। यह ईश्वर की मायाशक्ति से होता है। अतः, जैसे अध्यास अनादि और अनन्त है, वैसे ही माया भी अनादि और अनन्त है।

नैसर्गिक का अर्थ है स्वाभाविक। अनादि होने से अध्यास नैसर्गिक ही है।

सकललोकप्रत्यक्षः ऊपर वर्णन किया गया कि अध्यास के लिये अनुभव ही प्रमाण है, इसलिये समझाते ही सब इसको स्पष्ट रूप से समझ जाते हैं। अतः इसको सकललोकप्रत्यक्ष कहा है। यदि हम प्रत्यगात्मा के स्थान पर शुद्धात्मा को रखते हैं तो अध्यास सकललोकप्रत्यक्ष नहीं होगा।

आत्मैकत्वविद्याप्राप्तिः–अध्यास इसी से नष्ट होता है। जो वह नहीं हैं, उसमें उसकी बुद्धि ही अध्यास है। अर्थात् 'वह', और 'जो वह नहीं है वह', ऐसा द्वैत अध्यास में रहता ही है। यहाँ क्षेत्रज्ञ ही 'वह' है और क्षेत्र 'उससे अन्य' है। विपर्ययाध्यास में क्षेत्र वह है और क्षेत्रज्ञ उससे अन्य है। ये दोनों ही पूर्वदृष्ट हैं। इसलिये क्षेत्रज्ञ में अतस्मिन् तद् बुद्धि के लिये अवकाश है। परन्तु आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है, दोनों आत्मा है। ***'ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासं, विज्ञानस्पन्दितं स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया'***– अचल आत्मा ही अविद्या से विषयी और विषय के रूपों में भासता है (मां. का. भा. ४.४७)। इसलिये, जो अपनी आत्मा को जानता है उसमें द्वैत नहीं, इसलिये अध्यास नहीं, इसलिये कर्म नहीं, इसलिये जन्म नहीं। मोक्षस्वरूप यह आत्मा उपनिषदों से ही जानी जा सकती है। आत्मा औपनिषदपुरुष है। वेद का प्रथम भाग कर्मकाण्ड है जो अविद्यावान् को ही लक्षित करके कहा गया है। वेद का अन्तिम भाग उपनिषद (वेदान्त) है। यह उसको लक्षित करके कहा गया है जो अपनी अविद्या को नष्ट करना चाहता है। यह आत्मा स्वयं ही है यह जानना ही मुक्ति है।

शारीरक का अर्थ है शरीर में निवास करने वाला जीव। मीमांसा का अर्थ है पूज्य विचार। अति पूज्य ब्रह्म ही है। शारीरकमीमांसा का विषय यही ब्रह्म है। वेदान्तसूत्रों के समन्वय और अविरोध नामक पहले दो अध्यायों में यह सिद्ध किया गया है कि क्षेत्र का स्वरूप ब्रह्म ही है। तीसरे साधना अध्याय में सिद्ध किया गया है कि क्षेत्रज्ञ भी यही ब्रह्म है। इसमें ज्ञानसाधक उपासनाओं का विषय भी है। अन्तिम फलाध्याय में मोक्ष के लक्षण बताये गये हैं।

(२४.२) इस आत्मविद्याप्रतिपत्ति के लिये शारीरकमीमांसा के अनुसार क्रम ये है:–पहले अध्यासविमर्शा से क्षेत्रज्ञ को क्षेत्रधर्मों से अलग करते हैं। इससे तत्त्वमसि महावाक्य में त्वं पद का निश्चय हो जाता है, जो कि प्रत्यगात्मा प्राज्ञ ही है। यह सभी का अनुभव है कि प्राज्ञ स्वयं अपने को नहीं जानता है। इसलिये ऐसा करना प्रथम सोपान है। क्षेत्र जगत् को अपने धर्मों–अनृतत्व, जड़त्व, परिचिछन्नत्व से अलग करके जगत्तत्त्व समझाया जाता है। इसके लिये श्रुति मृद्–घटादि दृष्टान्त देकर जगद्धर्म और जगत्तत्त्व का कार्यकारण सम्बन्ध बताती है। जगत् में विकार द्वारा दिखायी देने वाले अनृतत्त्वादि धर्म वाचारंभण नामधेय हैं। यह कार्य है; इसके द्वारा ही कारण जाना जाता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। कारण में कार्यधर्म नहीं है। परन्तु, कारण के ज्ञान के लिये कार्य का नाश भी तो नहीं कर सकते और स्वयं नाश होने तक प्रतीक्षा करें ऐसा भी कहने में मतलब नहीं है। इसलिये, कार्य के रहते समय ही उसमें छिपे हुये कारणतत्त्व को कार्यधर्मों से अलग करके हमें समझाना है। अलग करने का क्या मतलब है?:–'इन्द्रियगोचर विकार भी कारणतत्त्व ही है, नहीं तो वह विकार अस्तित्व में ही नहीं आ सकता था–***कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव अनात्मभूतस्य अनारभ्यत्वात्'*** (सू.भा.२.१.१८)। इस कार्य–कारणअनन्यत्व को श्रुतिप्रमाण से समझना है।'कार्य–कारणअनत्यत्व कहने पर भी कार्य कारणस्वरूप का है, न कि कारण कार्यस्वरूप का है–***अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयो: कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं'*** (सू.भा.२.१.९)। यह समझ जगत् के विषय में रहनेवाली परमार्थदृष्टि का फल है। इस समझ की प्राप्ति से इन्द्रियों के अनृतादि धर्मों को देखते रहने पर भी क्षेत्र के ब्रह्मस्वभाव का बोध प्राप्त होता है। यही तत्पदार्थ है। घट अनेक होने पर भी मृद्दृष्टि से जैसे एक ही हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व ब्रह्म है–***'ब्रह्मैवेदं विश्वम्'*** (मु.२.२.११)। यह ब्रह्म, कार्य से विलक्षण, सत्य–ज्ञान–अनंत है। इसके निश्चयानन्तर निदिध्यासन से ***'तत्त्वमसि'***–वह तुम ही हो (छा. ६.८.७) यह अवगति प्राप्त होती है। यही है ब्रह्म–आत्मैकत्व विद्या। इस आत्मस्वरूप का आश्रय लेने से बाह्याकार (सामने रहने पर भी) भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है–***'बाह्याकार भेदबुद्धि निवृत्तिरेव आत्मस्वरूपावलंबन- कारणम्'*** (गी.भा. १८.५०)। यही है सर्वात्मभाव यानि मोक्ष। (बृ. ४.३.२१)।

२५. अध्यासभाष्य व्याख्यान के परिशिष्ट विचार

२५. इस व्याख्यान के पश्चात् कुछ बताना अभी शेष है:–

(२५.१) अध्यासभाष्योक्त अस्मत्प्रत्ययगोचर प्रत्यगात्मा तुरीय (शुद्धात्मा) नहीं हो सकता क्योंकि वह अज्ञानी के अनुभव में रहनेवाला प्रत्यगात्मा नहीं है। शुद्धात्मा अन्वेष्टव्य है, विजिज्ञासितव्य है– ***'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'*** (छा. ८.७.१); अतः वह पूर्वदृष्ट नहीं है, इसलिये स्मृतिरूप में नहीं आ सकता। ***'आत्मैवेदं सर्वम्'***–यह सब कुछ आत्मा ही है (छा. ७.२५.२) इसलिये उससे परत्र कुछ है ही नहीं; अतः शुद्धात्मा में ***'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'***, इस अध्यासलक्षण वाक्य का अन्वय नहीं होता। आत्मा अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य होने के कारण निर्धर्मक है; इसलिये, **अन्यत्र अन्यधर्मावभास** भी असंभव है। वह एकान्तेन विषयी है, और एकान्तेन अविषय है। वह किसी को कभी भी विषय नहीं होता। ***'यः तु आत्मशब्दस्य इतिपरः प्रयोगः आत्मशब्दप्रत्ययोः आत्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्'***–आत्मा शब्द का जो 'इति' शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह परमार्थतः आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय का अविषयत्व सूचित करने के लिये है (बृ.भा.१.४.७)। जो ज्ञानी को भी विषय नहीं है, वह क्या अज्ञानी को अस्मत्प्रत्ययगोचर हो सकता है? 'अध्यास से अस्मत्प्रत्ययगोचर हो सकता है न?' ऐसा पूछा तो उत्तर है, नहीं। अध्यास के लिये अधिष्ठान का सामान्यज्ञान आवश्यक है। अज्ञानी को तो वह भी नहीं हैं; यही है आत्मा का अविषयत्व। तद्विपरीत, स्वानुभव में सबको प्राज्ञ का सामान्यज्ञान है; यही प्राज्ञ का विषयत्व है। इसलिये, वही अस्मत्प्रत्ययगोचर है। आत्मा तो उसका साक्षी है। भाष्यकार ने इसको ऐसे स्पष्ट किया है: ***'ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्सु एव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न। तत् साक्षित्वेन् प्रत्युक्तत्वात्'***–आत्मा 'मैं' इस प्रतीति का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? नहीं। क्योंकि कह चुकें हैं कि आत्मा उसका भी साक्षी है (सू.भा. १.१.४)। इस तरह अविषय होने के कारण आत्मा एकान्तेन प्रकाशस्वरूप है; यदि विषय होता तो तमोरूप होता। ***'एकात्मप्रत्ययसारं'*** तुरीय (मां. ७) प्रत्ययगोचर नहीं हो सकता। तुरीय प्रत्यगात्मा होने पर भी अध्यास करने वाले जीव को अपरोक्ष नहीं है, इसलिये अप्रसिद्ध है। अर्थात्, ***'प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः'***यह वर्णन तुरीय शुद्धात्मा को अन्वय नहीं होता। इतना ही नहीं। तुरीयात्मा प्रत्यगात्मा होने पर भी, प्रत्यगात्मामात्र नहीं, वह अनंत है, सर्वात्मा है। प्राज्ञ का शरीरादि से सम्बन्ध रहता नहीं है, फिर भी जाग्रत् में उसमें अध्यास होता है; यह समझाते ही सभी को समझ में आ जाता है। अतः, अध्यास को सकललोकप्रत्यक्ष कहा है। लेकिन, 'आत्मा में अध्यास हुआ है' यह अनुभववेद्य नहीं है। इसलिये ऐसा अध्यास सकललोकप्रत्यक्ष नहीं है। इसके परिणामस्वरूप, अध्यास के नाश के लिये जिज्ञासु में प्रवृत्ति पैदा नहीं होती, वक्ता की कल्पनामात्र रूप रह जाती है। इतना ही नहीं, तद्विपर्यय अध्यास में देह अधिष्ठान है और प्रत्यगात्मा अध्यस्त है। यह प्रत्यगात्मा अगर तुरीय है तो 'तदन्य' देह में अन्यधर्माध्यास नहीं हो सकता क्योंकि तुरीय तो निर्धर्मक है। यदि कहो कि 'तुरीय के ज्ञानानन्द का अध्यास तो हो सकता है न?' तो नहीं, क्योंकि ज्ञानानन्द तो तुरीय का स्वरूप ही हैं, अज्ञानी को गोचर होने वाला धर्म नहीं–यह सदैव स्मरण रखना चाहिये।

Maha Parivrajaka

(२५.२) इस प्रकार, प्रत्यगात्मा के स्थान पर शुद्धात्मा को रखने का असाधुत्व सिद्ध होने के पश्चात् शुद्धात्मा को रखने से हानि क्या होती है यह बताना भी आवश्यक है:–

जो प्रत्यगात्मा की जगह आत्मा को रखते हैं वे कहते हैं कि जो अध्यस्त है वह असत् है। यदि यह स्वीकार करते हैं तो प्राज्ञ के विषय में केवल बुद्धि, इन्द्रिय, अपने और पुत्रभार्यादियों के शरीरमात्र ही अध्यस्त होने से उतना मात्र ही असत् होगा, बाकी सूर्यचन्द्रादि अनध्यस्त जगत् असत् न होकर बच जायेगा। आत्मा के विषय में ऐसा नहीं है। यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण जगत् शुद्धात्मा में अध्यस्त होने से असत् है, 'असत् कैसे है? इन्द्रियवेद्य हो रहा है न?' ऐसा पूछा तो वे कहते हैं:–'रज्जु में जैसे सर्प दिखायी देने पर भी असत् है, वैसे ही आत्मा में अध्यस्त जगत् दिखायी देने पर भी असत् है। इसलिए, भाष्य में सैंकड़ों स्थानों पर जगत् को मिथ्या यानी अविद्याकल्पित कहा है'। यह गलत है क्योंकि इसी दृष्टान्त को ही लेकर भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि जगत् असत् नहीं है। ***'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'***–उसने ईक्षण किया कि मैं बहुरूप से उत्पन्न हो जांऊ। इस श्रुतिवाक्य का व्याख्यान करते समय भाष्यकार कहते हैं ***'यथा मृद्घटाद्याकारेण, यथा वा रज्जवादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन। असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण? न। सत एव द्वैत भेदन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'***–जिस प्रकार कि मृत्तिका घटादि के आकार से अथवा जिस प्रकार बुद्धि से परिकल्पित सर्पादि आकार से रज्जु उत्पन्न होती है। (यदि कहो कि) तब तो रज्जु जिस प्रकार सर्पादि आकार से ग्रहण की जाती है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह असत् ही है (तो इसका उत्तर है) नहीं। द्वैतभेद के कारण सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी भी किसी भी पदार्थ की असत्ता नहीं है (छा. भा. ६.२.३)। क्या विश्वरूपदर्शन असद्दर्शन है? क्या असद्दर्शन के लिए अर्जुन को भगवान् को दिव्यदृष्टि देनी पड़ी? इसलिये, रज्जु में दिखायी देने वाले सर्प के समान जगत् भी असत् है–यह कल्पना, बहुरूप में खड़े होने के संकल्प के कारण ब्रह्म ने स्वयं जगदाकार लिया–इस श्रुतिवचन के अत्यन्त विरुद्ध है। भाष्यविरुद्ध भी है। ***'सद् एव सोम्य इदम् अग्र आसीत्'***–सोम्य! यह पहले सत् ही था (छा.६.२.१)। अर्थात्, सृष्टिपूर्व जब इन्द्रियवेद्य नहीं था, तब भी जो सत् था, वही जगत् सृष्टि पश्चात् जब इन्द्रियवेद्य हो रहा है, तब असत् कैसे होगा? 'भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि स्वप्नदृश्य जैसे जाग्रद्दृश्य भी असत् है। इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती... वह मिथ्या ही है– ***जाग्रद् दृश्यानामपि.... असत्त्वं स्वप्नदृश्यवत् अनाशंकनीयम्.....मिथ्यैव ते।*** (मां. का. भा. २.७)। इसका समन्वय कैसे होता है?' ठीक है। आत्मैकत्व का निश्चय करने के पश्चात् इस प्रकार कहा जा सकता है। क्योंकि अवस्थात्रय के एकात्मप्रत्ययसार आत्मा से जगत् भिन्न नहीं है। आत्मा के लिये दृश्य कुछ नहीं रह सकता लेकिन अज्ञानी का आक्षेप है कि वह जगत् को देख रहा है। दिख पड़ रहा है तो वह इस आत्मा से भिन्न ही होना चाहिए। इसलिये वह असत् ही है। स्वप्न में दिख पड़ने वाले रथादि के समान वह भी मिथ्या ही है। लेकिन आत्मैकत्व को सिद्ध करने के पूर्व जगत् का अविथत ही कहा है–अर्थात्

व्यावहारिक सत्य है–***'तदेतत् सत्यं अवितथम्। किं तत्?...मन्त्रेषु.....कर्माणि.....'*** (मु. भा. १.२.१) जगत् सदा है कभी नष्ट नहीं होता। ***'यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति'***–जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार, कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है (सू.भा. २.१.१६)।

शंकाः–हम यदि इस प्रकार नामरूपोपाधि (जगत्) की सत्ता मानें, तो क्या एक ही है दूसरा नहीं, यहाँ कुछ भी नानात्व नहीं इत्यादि अद्वैतश्रुतियों से विरोध नहीं होगा?

उत्तरः–ऐसा नहीं है। मृदादि दृष्टान्तों के द्वारा इसका परिहार किया गया है। परमार्थदृष्टि से देखने पर मृद्विकार जैसे मृद् से अलग नहीं होते, वैसे ही जगत् ब्रह्म से अलग नहीं है। यह समझ ही एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति किंचन इत्यादि परमार्थदृष्टि का बोध है। जब अविद्या के कारण नामरूपोपाधि दृष्टि ही रहती है, तभी वस्त्वन्तर के सारे व्यवहार होते हैं। भाष्यकार इसको इस प्रकार समझाते हैंः–

'नामरूपोपाध्यस्तित्वे–एकमेवाद्वितीयम् नेह नानास्ति किञ्चन इति श्रुतयः विरुध्येरन्निति चेत्? न। यदा तु परमार्थ दृष्ट्या........मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः.........तदा तदपेक्ष्य एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि परमार्थदर्शनम्......यदा तु अविद्यया.....नामरूपोपाधिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः'–किन्तु नाम-रूप उपाधि की सत्ता स्वीकार करने पर तो एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, इन श्रुतियों से विरोध होगा ऐसा कहें तो? नहीं। जब परमार्थदृष्टि से मृत्तिकादि के विकार के समान ही परमात्मतत्त्व से वस्तुतः भिन्न कोई पदार्थ नहीं रहते, तब उस दृष्टि की अपेक्षा से ही एक ही अद्वितीय है, यहाँ नाना कुछ नहीं है इस परमार्थदर्शन का बोध होता है। परन्तु जब स्वाभाविकी अविद्या के कारण नाम-रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, तब उस समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला सारा व्यवहार होता है। (बृ.भा.३.५.१)

'नेह नानास्ति किञ्चन'-(ब्रह्म में) किंचित भी नानात्व नहीं (बृ.४.४.१८) इस ज्ञान के लिये, अर्थात् ब्रह्मैकत्व के लिये प्रमाण श्रुति है, इन्द्रियां नहीं; और नानात्व के लिये इन्द्रियां प्रमाण हैं श्रुति नहीं। एक प्रमाण दूसरे प्रमाण के विरुद्ध नहीं होता है; दूसरे को जो विषय नहीं है उसी को वह समझाता है–***'न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति'*** (बृ.भा.२.१.२०)। इसलिये, श्रुत्युक्त ब्रह्मैकत्व को सिद्ध करने के लिये इन्द्रियवेद्य नानात्व का निराकरण क्यों करना? ऐसा करना आवश्यक नहीं है। अर्थात्, शास्त्र वस्तु के दर्शन में दृष्टिभेद बताता है, वस्तु में नहीं। ब्रह्म एक ही है, वही आत्मा है; इसलिये, आत्मा में नानात्व नहीं है।

परन्तु, आत्मविद्याप्राप्त्यनंतर भी जगत् अदृश्य तो नहीं हो जाता। फिर वह कैसे दिखायी देता है? विद्याप्राप्ति के पूर्व भिन्न दिखने वाला जगत् अब ज्ञानी को अभिन्न दिखता है। अपने से अलग जो कुछ अन्य दिखायी देता है वह अविद्याकृत होने से, विद्या के द्वारा उसका अवस्तुत्व दिख पड़ता है। मोतियाबिन्द

Maha Parivrajaka

रहित नेत्रवान् को जो नहीं दिखायी पड़ता वही द्वितीयचन्द्र का असत्त्व है–***'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्धि द्वितीयचंद्रस्य असत्त्वं यद् अतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते'*** (तै भा. २.८७)।[१] इसलिये, पहले अपने से अलग दिखायी देने वाला अविद्याकल्पित जगत् विद्याप्राप्ति के बाद नहीं दिखता। जगत् को अपने से अलग देखनेवाला मिथ्यादर्शी है, उसे मोक्ष नहीं मिल सकता। 'जो ब्रह्म, क्षत्र (लोक, देवता, भूत, या कुछ भी) को आत्मा से अलग देखता है, उस मिथ्यादर्शी का वही मिथ्यादृष्ट जगत् निराकरण कर देता है', कहकर भेददृष्टि की निन्दा करके 'ये सब कुछ आत्मा ही है', इस प्रकार सर्ववस्तुजात की आत्मा से अभिन्नत्त्व की अवतरणिका की है–***'यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् आत्मनो अन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तद् एव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् पराकरोति इति भेददृष्टिम् अपोद्य इदं सर्वं यद् अयमात्मा इति सर्वस्य वस्तुजातस्य आत्माव्यतिरेकम् अवतारयति'*** (सू.भा.१.४.१९)। इसलिये, जगत्मिथ्यात्व की कल्पना श्रुति और भाष्य दोनों के ही विरुद्ध है।

(२५.३) ऐसी कल्पना करने वालों से अगर पूछा जाये कि मिथ्यावस्तु व्यवहार योग्य नहीं होती, लेकिन अनृत जगत् तो व्यवहार योग्य है न? तो वे कहेंगे 'व्यवहार भी मिथ्या ही है'। उनको अनृत, मिथ्या, अनिर्वचनीय, प्रातिभासिक सत्य, व्यावहारिक सत्य–इनमें कुछ भी अंतर नहीं नज़र आता। उनके अनुसार सबका एक ही अर्थ है। लेकिन भाष्यानुसार अनृत व्यवहारिक सत्य है, मिथ्या नहीं। ***'एकम् एव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म इह पुनः व्यवहारविषयम् आपेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यम् उच्यते। अनृतं च तद् विपरीतम्। किं पुनः एतत् सर्वम् अभवत्? सत्यं परमार्थसत्यम्'***–परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो व्यवहारविषयक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है। उससे विपरीत (मृगतृष्णा) को अनृत कहा जाता है। तो फिर यह सब भी क्या हो गया? सत्य, परमार्थसत्य (तै.भा.२.६.१)।

इतना ही नहीं, व्यवहार भी मिथ्या नहीं है। ज्ञानी के लिये सर्वव्यवहार और सर्वविकार सद्रूप से देखने के कारण सत्य ही है–***'सदात्मना सत्यत्व अभ्युपगमात्.......सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं'*** (छा.भा. ६.३.२)। आत्मज्ञान से पूर्व, उत्पत्ति और प्रलय अपने से भिन्न सत् से होते थे। किन्तु अब, सत् का आत्मत्व ज्ञात होने पर वे अपनी आत्मा से ही होने लगे। इसी प्रकार ज्ञानी का और भी सब व्यवहार आत्मा से होने लगता है–***'प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः..........उत्पत्तिप्रलयौ अभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मनः एव विदुषः'*** (छा.भा. ७.२६.१)

१. आनन्द आश्रम द्वारा प्रकाशित **आनन्दज्ञान** की टीका में 'असत्त्वं' के स्थान पर सत्त्वं पाठ है। परन्तु, काशी हितचिन्तक मुद्रणालय और श्रीरंगा के वाणीविलास मुद्रणालय, दोनों पाठों में असत्त्वं ही है, जो कि सही भी है।

(२५.४) जगन्मिथ्यात्वकल्पना की रक्षा के लिये कल्पनाओं की एक शृंखला ही है। उसे अब देखें। इसमें पहिले माया–अविद्या के विषय में–

जगत् को असत् कहने पर, श्रुतिस्मृतिपुराणों में वर्णित जन्मस्थितिलय की कारणरूप से प्रसिद्ध माया के लिये स्थान नहीं रहता। असत् होने पर भी जगत् अविद्या से दिखता है, ऐसा कहने से माया की प्रतिष्ठा पर अविद्या का आक्रमण नज़र आता है। इसलिये, विकृत तर्क से, माया की नकल करनेवाली, अविद्यारूपी एक विचित्र अनिर्वचनीयत्व की भी कल्पना की गयी (अध्यासभाष्य १४.४)। तब कुछ लोगों को सन्मात्र नित्यशुद्धबुद्धमुक्त ब्रह्म अविद्याशबल हुआ। और कुछ के लिये माया–अविद्या पर्याय हो गयी। कुछ के लिये माया अविद्याकल्पित बनी। विद्या से अविद्या का जब नाश होता है, तब कुछ लोगों के अनुसार माया का भी नाश हो जाता है। और कुछ को तो ज्ञानी में भी अविद्यालेश दिखायी दिया। कुछ के लिये अविद्या माया का कार्य हो गयी–आवरणविक्षेप शक्ति से जीवों को छलने वाली हुयी। लयकाल में ब्रह्म एक ही रहने से माया नहीं रह सकती, इसलिये वह अनित्य बनी। ईश्वर मायोपाधिक होने से लयकाल में ईश्वर का भी लय होता है इत्यादि। वेदान्तसाहित्य में पायी गयी ये विभिन्न प्रक्रियायें हैं। किसलिये? जगन्मिथ्यात्व की रक्षा के लिये। भाष्योक्त अद्वैतसिद्धि के लिए नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि अद्वैतसिद्धान्त के लिये ये सब अलग अलग प्रक्रियां हैं। हमें यह कथन बालिश दिखता है। क्यों? देखो! पहले ब्रह्म का अविद्याशबलत्व जो कि उच्चारण के लिए भी एक अयोग्य और अशुभ कल्पना है उसके विषय में: सिद्धान्त कहता है कि अविद्यायुक्त जीव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म से अलग नहीं है, लेकिन ब्रह्म उससे अलग है। ***'परमात्मनः जीवाद् अन्यत्वं, जीवस्य तु न परस्माद् अन्यत्वम्'*** (सू.भा. १.३.१९)। ब्रह्म ने अपने को ब्रह्म समझा–***'आत्मानम् एवावेत् अहंब्रह्मास्मि इति'*** इसके भाष्य में कहा है–***'ब्रह्मणि अविद्यानुपपत्तिः इति चेत्? न। ब्रह्मणि विद्या विधानात्।.... ....न ब्रूमः...........ब्रह्मणि अतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति। किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मनि अतद्धर्माध्यारोपण निमित्तम् अविद्याकर्तृ च इति। भवतु एवं न अविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किंतु न एव अब्रह्म अविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्यः इष्यते'*** किन्तु ब्रह्म में अविद्या होना ही असंगत है? नहीं, क्योंकि ब्रह्म में विद्या का विधान किया गया है। पूर्वपक्षी:– हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म में अब्रह्म के धर्मों का आरोप नहीं है। तो फिर क्या कहते हैं? यही कि ब्रह्म अपने में अब्रह्म धर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या करने वाला नहीं है। सिद्धान्ती:–यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त न हो, किंतु अविद्या का कर्ता कोई अन्य अब्रह्म भ्रान्त चेतन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। (बृ.भा.१.४.१०)

माया–अविद्या पर्यायत्व के विषय में:–*'देहादि संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः। आत्मनः माया अविद्या, तया प्रत्युपस्थापिताः*–देहादि संघात आत्ममाया विसर्जित है। आत्मा की माया है अविद्या जिससे वे सामने उपस्थापित है' (मा. का. भा. ३.१०) कहकर आत्म शब्द का अर्थ जीवात्मा लेते

समय माया शब्द का अर्थ अविद्या लिया है। अगले श्लोक में *'पर एव आत्मा य: पूर्वं सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म इति प्रकृत:। यस्मादात्मन:.....संघाता: आत्ममाया विसर्जिता: सत्यं ज्ञानं अनन्तं'* ब्रह्म ही प्रकृत पर आत्मा है। उसी आत्मा से विसर्जित संघात आत्ममाया विसर्जित संघात है (मा. का. भा. ३.११) कहकर आत्म शब्द का अर्थ परमात्मा लेते समय माया शब्द का अर्थ माया ही लिया है। इस प्रकार माया-अविद्या को भाष्यकार अलग करके ही दिखाते हैं। उतना ही नहीं। *'अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्।'*-(गीता. भा. ७.४) *'अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवत् माया'*-(गी.भा. १२. ३) *'प्रकृतिस्थत्वाख्या अविद्या संसारस्य कारणम्'*-(गी.भा. १३.२१) *'प्रकृत्या......अविद्यारूप: संयोग: संसार:'* (गी.भा. १३.२०) इत्यादि वाक्यों से अविद्या-मायापर्यायत्व अत्यन्त विरुद्ध है। इतना ही नहीं, पर्यायत्व कहकर अविद्या की एक विचित्र अनिर्वचनीयत्व की कल्पना की है। लेकिन अध्यासभाष्य और दूसरे स्थानों में तो विस्तृत विमर्शा करके अग्रहण-संशयग्रहण-अन्यथाग्रहण को ही अविद्या कहा गया है। *'अविद्या विपरीतग्राहक: संशयोपस्थापक: अग्रहणात्मको वा'* (गी.भा. १३.२)। *'यदि ज्ञानाभाव: यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'* (बृ. भा. ३.३.१)। यह अविद्या का स्पष्ट निर्वचन है। इसलिये, अविद्या का अनिर्वचनीयत्व भाष्यसम्मत नहीं है। इससे आगे माया का अपनी आवरणविक्षेप शक्तियों द्वारा जीव को छलने की बात भी गलत है, क्योंकि ब्रह्म माया के द्वारा ही नामरूप के आकारों में खड़ा होता है। क्यों होता है? *'रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'*-वह रूप रूपके प्रतिरूप हो गया। इसके रूप समझाने के लिये। *'यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्य आत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत'* यदि नामरूपों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी होती तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप समझ में नहीं आता। (बृ.भा. २.५.१९)। यदि ब्रह्म ने अपने आप को समझाने के लिये ही विभिन्न नामरूपों की अभिव्यक्ति की है तो फिर वह माया से जो कि उसकी निजशक्ति ही है, अपने स्वरूप पर आवरण-विक्षेप क्यों डालेगा? *'प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थ-कर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते'*-समस्त कार्य करण और विषयों के आकार में परिणत हुयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देह-इन्द्रियादि आकार से मूर्तिमान होती है (गी.भा.१३ का संबंधभाष्य)। इसीलिये, जगत् से व्यामोहित होने पर, जीव के पराङ्मुखतारूपी दोष को माया के ऊपर डालना पाप है। यही नहीं, माया का अनित्यत्व भी भाष्य के सीधा-सीधा विरुद्ध है:

'नित्येश्वरत्वाद् ईश्वरस्य तत्प्रकृत्यो: अपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्वम् एव हि ईश्वरस्य ईश्वरत्वम्'-ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होने के कारण उसकी दोनों प्रकृतियों का भी नित्य होना उचित ही है, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है (गी.भा.१३.१९)। यहाँ बहुकाल

Maha Parivrajaka

को ही नित्य कहा गया है, ऐसा तोड़मरोड़ कर कुछ लोग अर्थ करते हैं। यह बहुकाल जितना भी लम्बा हो परन्तु अनित्य नहीं हो सकता क्योंकि ***'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'***–ईश्वर ने यथापूर्व सृष्टि की (ऋ.संहिता १०.१९०.३), ऐसा श्रुति कहती है। बहुकालानंतर होने वाली सृष्टि के लिये भी माया तो आवश्यक है ही।

अविद्यालेश का विषय:

'य एव अविद्यादिदोष निवृत्ति फलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या'–जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल प्रदान करने वाला हो, वह आद्य, अन्त्य, संतत, असंतत, कैसा भी हो, वही विद्या है (बृ.भा. १.४.१०)।

'आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालम्, तत् काले एव तद्विषय-अज्ञानतिरोभावः स्यात्। अतः ब्रह्मविद्यायां सत्याम् अविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य'–जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार दीपक के रहते हुये अन्धकार का कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के रहते हुये अविद्या का कार्य नहीं रह सकता (बृ.भा. १.४.१०)।

इतना कहने के बाद अविद्यालेश के लिये स्थान नहीं रहता है।

(२५.५) इसके बाद जगत् असत् है, ऐसी घोषणा करनेवालों के लिये शास्त्रप्रतिपादित सर्वात्मभाव अत्यन्त संकट का सूचक है। इसलिये वे इसे पूरा–पूरा छोड़ देते हैं। ***'अहम् अन्नम् अहम् अन्नादः अहं श्लोककृत्'*** (तै.अ.१०.६); ***'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'*** (बृ.१.४.१०); ***'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'*** (गीता. ५.१८)। ये सब सर्वात्मभाव के वाक्य हैं। अन्न, अन्नाद, श्लोककृत, मनु, सूर्य, ब्राह्मणादि, सब असत् ही हैं तो सर्वात्मभाव के लिये स्थान कहां है? इसलिये, जगत् को असत् कहना गलत है।

(२५.६) इस प्रकार, अमित श्रुतहान्यश्रुत कल्पनाएं शांकर भाष्य में अध्यस्त हो चुकी हैं। ये इतनी प्रचलन में आ चुकी हैं कि लोग समझते हैं कि यही शांकरसिद्धान्त है। इसीलिये ही भाष्य का अध्ययन जिज्ञासुओं में सिद्धान्त का यथार्थज्ञान पैदा नहीं कर रहा है। इससे प्रतिपक्षी भी उत्पन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं, उनमें असामंजस्य और परस्पर विरोध भी है, 'यह ऐसा कहते हैं, वह ऐसा कहते हैं, तो क्या हुआ, ये तो केवल प्रक्रियाभेद हैं। सबका मूलसिद्धान्त तो एक ही है'। इस प्रकार की सामनीति यथार्थज्ञान नहीं उत्पन्न करती बल्कि और भी अधिक भ्रम पैदा करती है। सृष्टिक्रम को समझाने वाले अवान्तर स्थानों में 'पंचीकरण एक प्रक्रिया, त्रिवृत्करण एक प्रक्रिया' ऐसा शायद हो सकता है, परन्तु मूलसिद्धान्त के प्रतिपादन में प्रक्रिया नहीं रह सकती। परस्पर विरुद्ध बातों का तो प्रक्रिया होना असाध्य ही है। इसलिये, सर्वसम्मत श्रुत्युक्त अद्वैतसिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये शांकरभाष्य के अतिरिक्त ***'न अन्यः पन्था अयनाय विद्यते'***।

यह ठीक है कि शांकरभाष्य के अत्यन्त सरल भाषा होने पर भी कर्मी, जिज्ञासु, संन्यासी, सभी के मार्गदर्शन के लिये होने के कारण, कुछ स्थलों में अर्थनिश्चय कठिन हो सकता है। संशय भी हो सकते हैं। उनके परिहार के लिये स्मरणयोग्य बात यह है कि विषय विस्तार होने के कारण सभी के सारे संशयों का परिहार सभी को एक ही स्थान पर नहीं मिल सकता। परन्तु, हरेक संशय का परिहार सबको भाष्य में और कहीं न कहीं लभ्य होता ही है। इस नियम का अपवाद नहीं है। यही भगवान् भाष्यकार का सर्वज्ञत्व है। वेद में अन्य प्रमाणों के विरुद्ध वाक्यों को अर्थवाद कहकर विधिनिषेध वाक्यों द्वारा उनका समन्वय किया जाता है। लेकिन भाष्य में ऐसे प्रसंग आते ही नहीं क्योंकि निस्संशय रूप से अर्थ को समझाना ही उनका उद्देश्य है। इसलिये, जिनका अर्थ निश्चय नहीं होता है, उनको खींचतान करके या फिर घुमा-फिरा कर के, या अपनी कल्पनाओं को जोड़कर अर्थ निश्चय करने का साहस अनुचित है। भाष्यों के अन्यवाक्यों से ही उन कठिन स्थलों का भी अर्थ निश्चित करना है। यह हम इसलिये कर सकते हैं क्योंकि शांकरभाष्य परिपूर्ण है। इस क्रम को यदि छोड़ा तो श्रुतहान्यश्रुत कल्पनाएं ही होंगी। इसका अतिदारुण दृष्टान्त वेदान्त शास्त्र के प्रथम पद में ही है जो कि अत्यन्त दुर्भाग्य का विषय है। गीताभाष्य के ***'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः'*** वाक्य को स्मरण रखने वाला कौन ***'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोः.... ....'*** में अस्मत् शब्द का अर्थ शुद्धात्मा करेगा? क्या यही कारण नहीं है कि जगत् को असत् कहना पड़ा? असत् कहने के बाद छान्दोग्यभाष्य में ***'असद् एव तर्हि सर्वं यत् गृह्यते.....'*** आक्षेप वाक्य के उत्तर को देखते ही कौन उस अर्थ को नहीं छोड़ेगा? ऐसा न करके अपनी कल्पना के समर्थन में डटे रहने के कारण ही माया और अविद्या को पर्याय कहना पड़ा न? ***'अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्'*** इस गीताभाष्य के वाक्य को याद रखने वाला कौन इस पर्यायत्व को आगे बढ़ायेगा? इस प्रकार एक दुष्ट कल्पना की रक्षा के लिये और एक दुष्ट कल्पना करने से इतिमितिरहित अनेक कल्पनाओं ने सिद्धान्त प्रतिपादन में प्रवेश कर लिया है। अस्मत् शब्द का अर्थ क्षेत्रज्ञ रखा होता तो, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ में भिन्नत्वमात्र दिखाकर, क्षेत्र के असत्त्व की कल्पना से साधकों को बचाया जा सकता था। इससे आगे की हुई कल्पनाओं की श्रृंखला से भी बचा जा सकता था। ऐसी कल्पनाओं ने सिद्धान्त के सम्यग्दर्शन में सहायक होने के स्थान पर सिद्धान्त की हानि की है। शांकरभाष्य अपने आप में परिपूर्ण है। उसमें न कुछ निकालने योग्य दोष की संभावना है, न कुछ जोड़ने योग्य गुण की संभावना है। शंकर परब्रह्म हैं, उनका प्रस्थानत्रयीभाष्य वेद है। इसे भूलना नहीं।

अविद्या भाव है या अभाव है? भाष्यकार कहते हैं—**'नहि भावानां निरन्वयो निरुपाख्यो विनाशः सम्भवति'** -भावों का निरन्वय नि:स्वरूप विनाश नहीं हो सकता (सू.भा. २.२.२२)। परन्तु, **'अविद्यायाश्च**

टिप्पणी–शास्त्र में श्रद्धा रखने वाले को भी यह संशय होता है कि जो क्षेत्रज्ञ है वही परमेश्वर कैसे हो सकता है? मुझे मुझ में ही प्रत्यक्ष रूप से दु:ख दिखाई दे रहा है; अत: मैं अविद्यावान् हूँ। परमेश्वर तो आनन्दस्वरूप है, नित्य-शुद्ध-

ब्रह्मविद्यया निरन्वयतो नाशितत्वात् विशेषसंज्ञा संभवो नास्ति' - ब्रह्मविद्या से अविद्या का निरन्वय नाश हो चुका है। इसलिये विशेषसंज्ञा संभव नहीं है (बृ.भा. २.४.१२)।

❀❀❀

बुद्ध-मुक्त -स्वभाव वाला है। इसलिये, मैं परमेश्वर कैसे हो सकता हूँ? इस सन्देह का कारण यह है कि क्षेत्रज्ञ स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से अलग है। वह हमारी सुषुप्ति में अनुभूत होता है। वह आत्मा ही है। शास्त्र उसी क्षेत्रज्ञ को परमेश्वर कहता है। सुषुप्ति के अनुस्मरण से यह कोई भी समझ सकता है कि इसमें कोई असमंजस नही है क्योंकि सुषुप्ति में परमेश्वर के सब लक्षण स्पष्ट रूप से अनुभूत होते हैं। परन्तु सामान्यजन, जागृत अवस्था में रहने वाले अपने को, अर्थात् बहिष्प्रज्ञ को, मन में रखकर इस शास्त्रवचन पर सन्देह करते हैं। ऐसे संशयग्रस्त व्यक्ति को उसके बहिष्प्रज्ञत्व से अलग करके क्षेत्रज्ञस्थान में बिठाकर दिखाते है कि वहाँ अविद्या नही है। इसको दिखाने का क्रम भगवद्गीताभाष्य (१३.२) के अनुसार इस प्रकार है:–

संशयग्रस्तः वह अविद्या किसकी है? **(सा अविद्या कस्य इति?)**

सिद्धान्तीः जिसकी दिखती है उसी की है। **(यस्य दृश्यते तस्यैव)**

संशयग्रस्तः किसकी दिखती है? **(कस्य दृश्यते इति?)**

सिद्धान्तीः अविद्या किसकी दिखती है यह प्रश्न निरर्थक है **(अविद्या कस्य दृश्यते इति प्रश्नः निरर्थक)** क्योंकि अविद्या स्वतन्त्ररूप से नही रहती है। किसी का आश्रय लेकर ही रहती है। इसलिये, यदि अविद्या दिखती है तो उससे जो युक्त है उसको भी तू देखता ही होगा। **(दृश्यते चेत् अविद्या तद्वन्तमपि पश्यसि)**

संशयग्रस्तः ऐसा नही है। उदाहरण के लिये, नेत्र और नेत्र के दोष को प्रत्यक्ष देखकर वैद्य कह सकता है कि नेत्र दूषित है। उसी प्रकार अविद्या और अविद्यावान् के प्रत्यक्ष न होने के कारण सम्बन्ध नही समझ आता। **(न तथा अविद्या तद्वांश्च प्रत्यक्षौ)**

सिद्धान्तीः अप्रत्यक्ष अविद्यावान के साथ अविद्या का सम्बन्ध जानने से तुम्हें क्या मिलेगा? **(अप्रत्यक्षेण अविद्यावता अविद्यासम्बन्धे ज्ञाते किं तव स्यात्?)**

संशयग्रस्तः अविद्या अनर्थ का हेतु होने से उसका परित्याग किया जा सकेगा। **(अविद्याया अनर्थहेतुत्वात् परिहर्तव्या स्यात्)**

सिद्धान्तीः जिसकी अविद्या है वही उसका त्याग कर देगा। **(यस्य अविद्या स तां परिहरिष्यति)**

संशयग्रस्तः मैं किसी और के बारे में नहीं सोच रहा हूँ। अविद्या मेरी ही है? **(ननु ममैव अविद्या?)**

सिद्धान्तीः तब तो तू अविद्या और उससे युक्त अपने को जानता है? **(जानासि तर्हि अविद्या तद्वन्त च आत्मानम्?)** अत: आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि यह अविद्या किसकी है यह प्रश्न निरर्थक है।

संशयग्रस्तः जानता हूँ परन्तु प्रत्यक्ष से नही। **(जानामि, न तु प्रत्यक्षेण)**

सिद्धान्तीः यदि अनुमान से जानता है तो (तुझ ज्ञाता के और अविद्या के) सम्बन्ध का ग्रहण कैसे हुआ? **(अनुमानेन चेत् जानासि, कथ सम्बन्धग्रहणम्?)** सम्बन्ध अनुमान से नही जाना जा सकता। इसका कारण यह है–दु:ख का कारण है अविद्या। अत: जिसमें दु:ख दिखता है अविद्या उसी की होती है। दु:ख बहिष्प्रज्ञ में होता है, सुषुप्ति में जो ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है उसमें नही। यह सबका अनुभव है। इसलिये, बहिष्प्रज्ञ के दु:ख को देखकर ज्ञाता में अविद्या का अनुमान करने के लिये अविद्या तथा अविद्या और ज्ञाता का सम्बन्ध, दोनों के एक ही समय में जानना आवश्यक है। लेकिन, उस

समय तुझ ज्ञाता का ज्ञेयरूप अविद्या के साथ सम्बन्ध ग्रहण नही किया जा सकता। **(न हि तव ज्ञातुः ज्ञेयभूतया अविद्यया तत्काले सम्बन्धः ग्रहीतुं शक्यते)** क्योंकि, अविद्या जानने वाला होने में ज्ञाता का उपयोग हो चुका है। **(अविद्याया विषयित्वेनैव ज्ञातुः उपयुक्तत्वात्)** अविद्यासम्बन्ध ग्रहण करने वाला और उस सम्बन्ध का ज्ञान, ये दोनों किसी दूसरे का विषय नही हो सकते। **(न च ज्ञातुः अविद्यायाश्च संबन्धस्य यो ग्रहीता ज्ञान च अन्यत् तद्विषयं संभवति ज्ञाता)** क्योंकि शरीर के बाहर रहने वाले दूसरे ज्ञाता को यह ज्ञाता अप्रत्यक्ष है।

संशयग्रस्तः यदि ऐसा है तो, मैं ही मेरे अलग-अलग करणों के द्वारा अन्य-अन्य ज्ञाता बनकर, मेरे इस सम्बन्ध का अनुमान करुँगा।

सिद्धान्तीः न। यह भी असाध्य है, क्योंकि अनवस्था दोष प्राप्त होगा। **(अनवस्थाप्राप्तेः)** दृष्टान्त के द्वारा इसे सरलता से जाना जा सकता है। आँख, मन, बुद्धि इत्यादि करणों के द्वारा ज्ञाता को रुप का ज्ञान होता है। रूप जब ठीक प्रकार से नही दिखता तब अनुमान से, 'मैं अन्धा हूँ' इस प्रकार निश्चय करने के लिये आँख का मन् बुद्धि इत्यादि के द्वारा परीक्षण करना पड़ेगा। ऐसा करते समय क्रमशः रूप, नेत्र, मन इत्यादि तुम्हारे ज्ञेय होंगे और प्राप्त होनेवाला ज्ञान क्रमशः नेत्र में रुप की छाया, मन में रूप की छाया की छाया, बुद्धि मे रूप की छाया की छाया की छाया................. इस प्रकार अनवस्था को प्राप्त करेगा। इसके निवारण के लिये 'तुम सदा करणों को और उनमें होनेवाली छायाओं को देखने वाले हो, अतः तुम ज्ञाता हो और अन्य सब तुम्हारे लिये ज्ञेय है' यह चिन्तन करना चाहिये। तुम्हारा किन्ही भी करणों से या छायाओं के साथ कभी सम्बन्ध नही हो सकता अतः तुम कभी भी अन्धे नही हो। उसी प्रकार ज्ञेय चाहे अविद्या हो या और कुछ हो, ज्ञेय ज्ञेय ही रहेगा, वैसे ही ज्ञाता भी ज्ञाता ही रहेगा, ज्ञेय नही हो सकता। जबकि ऐसा है तो अविद्या या दु:खित्व आदि दोषों से ज्ञाता क्षेत्रज्ञ का कुछ भी दूषित नही हो सकता **(यदि पुनः अविद्याज्ञेया अन्यद्वा ज्ञेय ज्ञेयमेव तथा ज्ञाता अपि ज्ञाता एवं, न ज्ञेय भवति। तदा च एवम्, अविद्यादु:खित्वाद्यैः न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य किंचिद् दुःष्यति)**।

Maha Parivraaka

१. ब्रह्मसूत्रों का दिग्दर्शन

(१) अध्यासभाष्य के अंत में भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्ति ही शारीरकमीमांसा का तात्पर्य है। इस ध्येय की पूर्ति के लिये पहले शास्त्रप्रतिपादित अनुसरणीय क्रम को पहचानने में लाभ है। इस ग्रन्थोद्देशसाफल्य के लिये पर्याप्त यह संक्षिप्त दिक् सूची तैयार की गयी है। तत्त्वमसि में सन्मात्र ब्रह्म ही तत् है। उसको स्वयं समझना ही आत्मैकत्वविद्या है। यह ठीक है कि वाणी से, मन से, आँख से या और किसी इन्द्रिय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, चूँकि यह ज्ञात है कि वह जगत् का कारण है, वह (ब्रह्म) है ही। ***'नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते इत्यर्थः। तथापि सर्वविशेष रहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)'*** (क.भा. २.३.१२)। इसलिये हमें जगत् के द्वारा ही ब्रह्म को समझना है। और कोई दूसरा मार्ग न होने से ब्रह्मविचार जन्मादि सूत्र से ही आरंभ होता है। ब्रह्मोपादानत्व इस सूत्र में अन्तर्गत होने पर भी उसकी प्रधान चर्चा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में है। वहाँ मृदादि दृष्टान्तों द्वारा कार्य-कारण-अनन्यत्व न्याय से सिद्ध किया गया है कि 'जगत् ब्रह्म ही है, लेकिन ब्रह्म जगत् से अलग है।' इससे सत्य-ज्ञान-अनन्त लक्षणों वाले ब्रह्म का एकत्व सिद्ध होता है। और ब्रह्मनिमित्तत्व के बारे में:-'ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्त है इस यथोक्त लक्षणवाले आत्मा के ज्ञान के लिये ही ब्रह्म में अनेक होना, सृष्टि में अनुप्रवेश करना, आनन्द की प्राप्ति, अभय और संक्रमणादि संपूर्ण व्यवहार की कल्पना की गयी है- ***'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म इति यथोक्तलक्षण आत्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवन सर्गप्रवेश-रसलाभ-अभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वं व्यवहार विषये'*** (तै.भा.२.८.५)। इस प्रकार, ब्रह्मात्मैकत्वप्राप्ति के लिये, ब्रह्म को समझाने के प्रथम स्तर में ब्रह्म स्वरूप में न रहने वाले व्यवहार को उसमें कल्पित करते हैं। यह शास्त्रकल्पना ही अध्यारोप है, जिसके द्वारा ब्रह्म को समझते ही अध्यारोप का अपवाद हो जाता है।

शंकाः–यदि ऐसा है तो अध्यारोपित व्यवहार अविद्याकल्पित हुआ न?

समाधानः–नहीं! अविद्याकल्पित का अर्थ पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। जैसे जगत् ब्रह्म ही है इसलिये अविद्याकल्पित नहीं हो सकता, उसी प्रकार ब्रह्मप्रकृतिकव्यवहार भी

Maha Parivrajaka

अविद्याकल्पित नहीं हो सकता। यह कह चुके हैं कि पारमार्थिक रूप से व्यवहार भी सत्य है (छां. भा. ७.२६.१) ***'न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'***-कुछ भी कभी भी असत् नहीं (छा.भा. ६.२.३)–इसको कभी नहीं भूलना चाहिये।

'लेकिन सन्मात्र ब्रह्म में बहुभवनादि व्यवहार कैसे होगा?' श्रुतिमात्र से ही समझ में आने वाले इस विषय पर लौकिक तर्क का आश्रय लेकर प्रश्न उठाना ठीक नहीं है। ***'सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयं..........तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'***-हे सोम्य! आरम्भ में यह (जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस सत् ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं–अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं'। उसने तेज उत्पन्न किया (छा.६.२१.१-३)। इस प्रकार जब श्रुति कह रही है, तो उसको उसी प्रकार समझना है। ***'यत् तु उक्तं परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयु: इति तदपि मनोरथमात्रम्।.........आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थ: धर्मवत्।..........को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्, इयं विसृष्टिर्यत आबभूव इति चेते ऋचौ सिद्धानाम् अपि ईश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयत:.......न अनेन मिषेण शुष्कतर्कस्य अत्र आत्मलाभ: संभवति'***–जो यह कहा गया है कि सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का संभव होगा, वह भी मनोरथमात्र है। ब्रह्म तो धर्म के समान केवल आगममात्र से अधिगम्य है। यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुयी है 'कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता है?' (ऋ.स.१/३०/६), ये दोनों ऋचाएं जगत् के कारण के विषय में सिद्ध ईश्वरों का भी दुर्विज्ञेयत्व दिखलाती हैं। (अन्य प्रमाणों की संभावना को बताने वाले श्रुतिवचन) के बहाने यहाँ शुष्क तर्क का होना संभव नहीं है' (सू .भा. २.१.६)।

(२) ब्रह्म जगत्कारणत्व को आगे बढ़ाकर, तद्विरुद्ध मतों के खण्डन के बाद ब्रह्मसूत्र सृष्टिक्रम की चर्चा करते हैं। तत्पश्चात् त्वं पदार्थ की चर्चा है। जगद्व्यवहार से आरंभ करके उसके (जगत् के) स्वरूप को जैसे ब्रह्म निश्चय करते हैं, उसी प्रकार जीव के कर्तृत्व आदि से आरंभ करके फिर उसके स्वरूप को समझाते हैं। इसलिये, पहले कर्ता जीव का विषय और फिर उसके अनन्तर तृतीयाध्याय द्वितीय पाद में सर्वलोकप्रसिद्ध अवस्थात्रय के महातर्क से त्वं पदार्थ प्राज्ञ का निर्णय होता है। जीव नहीं जानता कि वह स्वयं कौन है। यह समझाने के लिये 'मैंने उस समय कुछ नहीं जाना, सुख से सोया' उसके इस कथन का विश्लेषण किया जाता है। सुषुप्ति में विशेषज्ञान के अभाव का और आनन्द का कारण ब्रह्म से एकत्व ही है। इससे प्राज्ञ का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है। इस विचार के मनन और निदिध्यासन से ***'तत् त्वम् असि'***-वह आप ही हैं, यह

समझना ही आत्मज्ञान है। यह प्रकट होता है बुद्धि में । ब्रह्म सर्वात्मक है। इसलिये, जाग्रत् और स्वप्न में यह ज्ञान सर्वात्मभाव के रूप में ही प्रकट होता है। उससे आगे का ग्रन्थभाग विद्यासाधनाओं की, मोक्षफल में कर्मनाश की, और पुण्यपापनाश इत्यादि की चर्चा करता है।

(३) ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं। वे हैं क्रम से:–समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्याय। हर अध्याय में चार पाद हैं, और हर पाद में अनेक अधिकरण हैं, जिनकी कुल संख्या १९२ है। हर अधिकरण में कई सूत्र हैं (कुछ अधिकरण एक-एक सूत्र वाले भी हैं)। कुल सूत्रों की संख्या ५५५ है। प्रत्येक अधिकरण में पांच अंश रहते हैं:–

क. संगतिः पिछले विषय से इसका सम्बन्ध। अध्यासभाष्य ही प्रथम सूत्र की संगति है।

ख. विषयः चर्चा के लिये लिया हुआ विचार।

ग. संशयः जहाँ संदेह होता है वहीं चर्चा होती है। यह संदेह प्रस्तुत करनेवाला भाग है।

घ. पूर्वपक्षः सिद्धान्त का विरोध करने वाले का आक्षेप।

ङ. सिद्धान्तः आक्षेप का निवारण करके निश्चित किया हुआ स्वपक्ष।

❋❋❋

Maha Parivrajaka

जिज्ञासाधिकरण

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिख्यासितस्य इदम् आदिमं सूत्रम्।

जिस वेदान्त-मीमांसाशास्त्र की हम व्याख्या करना चाहते हैं, उसका यह प्रथम सूत्र है।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१.१.१)

अथ-अनन्तर; अत:-इसलिये; ब्रह्मजिज्ञासा-ब्रह्म जिज्ञासा

१. तत्र अथ शब्दः आनंतर्यार्थः परिगृह्यते न अधिकारार्थः। ब्रह्मजिज्ञासायाः अनधिकार्यत्वात्। मंगलस्य च वाक्यार्थे समन्वयाभावात्। अर्थान्तर एव हि अथशब्दः श्रुत्या मंगल प्रयोजनो भवति।

१. यहाँ अथ शब्द का आनन्तर्यार्थ किया जाता है आरंभ नहीं, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का आंरभ नहीं किया जा सकता। और मंगल का वाक्यार्थ में समन्वय नहीं होता। इसलिये, अन्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ ही 'अथ' शब्द श्रवणद्वारा मङ्गल का प्रयोजक होता है।

किसी भी ग्रन्थ के आरम्भ में विषय, प्रयोजन, संबन्ध और अधिकारी, इस अनुबंधचतुष्टय का निरूपण किया जाता है। यहाँ विषय ब्रह्म है। प्रयोजन है मोक्ष। इसकी प्राप्ति के लिए जिज्ञासु में प्रवृत्ति पैदा करने वाला ही अध्यासभाष्य है। ब्रह्मज्ञान ही ब्रह्म और मोक्ष का संबन्ध है; और साधनचतुष्टयसंपन्न ही अधिकारी है। यह सब इस पहले सूत्र के भाष्य में निश्चित किया गया है।

(१.१) अथ शब्द के चार अर्थ-आरंभ, मंगल, पूर्वप्रकृतापेक्षा और अनन्तर का विचार किया गया है। यहाँ किस अर्थ को लेना है? व्याकरण शास्त्र में 'अथशब्दानुशासनम्', कहा गया है। योगशास्त्र ने भी 'अथ योगानुशासनम्', इस प्रकार अपने पहले सूत्र में अथ शब्द का अर्थ 'आंरभ' किया है। क्या यहाँ भी 'ब्रह्म जिज्ञासा का आंरभ' ऐसा अर्थ करना है? नहीं। क्योंकि ज्ञातुम् इच्छा-जिज्ञासा, जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है। ये या तो रहती है या नहीं रहती; 'इच्छा का आरंभ करना' ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं है।

मंगल अर्थ करना भी उचित नहीं है क्योंकि 'अथ ब्रह्मजिज्ञासा-मंगल ब्रह्मजिज्ञासा' ऐसा कहने पर वाक्य के अर्थ से समन्वय नहीं होगा; दो अलग-अलग वाक्य ही हो जायेंगे। 'लेकिन शिष्टाचारपालन के लिये ग्रंथारंभ में मंगलाचरण आवश्यक है न?' ऐसा पूछा तो ठीक है, आवश्यक है, परन्तु अथ शब्द का प्रयोग और किसी अर्थ में हो तो भी उसके श्रवणमात्र से ही मंगल हो जाता है। इसमें स्मृति प्रमाण है:

Maha Parivrajaka

ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।।

सृष्टि के आदि काल में, 'ओंकार' और 'अथ' ये दोनों ब्रह्माजी के कण्ठ से प्रथम निकले हैं, इसलिये दोनों ही मांगलिक हैं।

२. पूर्वप्रकृतापेक्षायाश्च फलतः आनंतर्याव्यतिरेकात्। सति च आनंतर्यार्थत्वे यथा धर्मजिज्ञासा पूर्ववृत्तं वेदाध्ययनं नियमेन अपेक्षते एवं ब्रह्मजिज्ञासाऽपि यत् पूर्ववृत्तं नियमेन अपेक्षते तद्वक्तव्यम्। स्वाध्यायानन्तर्यं तु समानम्।

२. पहले प्रकृत (धर्मजिज्ञासा) की अपेक्षा से effectively उसका आनन्तर्य से भेद नहीं है। 'आनन्तर्य' अर्थ होने पर जैसे धर्मजिज्ञासा नियम से पूर्व में होने वाले वेदाध्ययन की अपेक्षा रखती है, उसी प्रकार ब्रह्मजिज्ञासा भी नियम से पूर्व में रहने वाली जिस वस्तु की अपेक्षा रखती है, उसे कहना चाहिये। स्वाध्याय का आनन्तर्य तो धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा, दोनों में समान है।

(२.१) ***'पूर्वप्रकृतापेक्षायाः'***–पहले प्रकृत हुयी धर्मजिज्ञासा की अपेक्षा से। पहले कुछ लोग 'धर्मजिज्ञासानन्तर ब्रह्मजिज्ञासा' इस अर्थ में अथ शब्द का आनन्तर्य कहते थे। इस कथन में 'अनन्तर' तो स्वीकार्य है, लेकिन 'धर्मजिज्ञासानन्तर' यह कथन स्वीकार्य नहीं। इसका कारण चौथे सूत्र ***'तत्तु समन्वयात्'*** में स्पष्ट होगा। इसलिये आनन्तर्य अर्थ में उनसे विरोध नहीं। धर्मजिज्ञासा से पूर्व वेदाध्ययन आवश्यक है। उसी प्रकार, ब्रह्मजिज्ञासा के पूर्व भी क्या होना चाहिये यह अब बताना है। बाद में कहा जायेगा कि ब्रह्मजिज्ञासा के लिये भी पहले वेदाध्ययन होना ही चाहिये। धर्मजिज्ञासा के लिये संहिता और ब्राह्मण, और ब्रह्मजिज्ञासा के लिये आरण्यक और उपनिषद आधार होते हैं। तो भी, वेदाध्ययन में चारों ही समाविष्ट हैं।

शंकाः–यदि ऐसा है तो, जो वेदाध्ययन के लिये अधिकारी नहीं, उनको ज्ञानप्राप्ति कैसे होगी?

समाधान–उनको पुराण-इतिहास से होगी (ब्र.सू. १.३.३४-३८)। उन पर पुरुषसामान्य को अन्वय होने वाले जप, उपवास, देवताराधन आदि धर्मविशेषों के कारण विद्या का अनुग्रह होता है–***'पुरुषमात्रसम्बन्धिभिः जपोपवासदेवताराधनादिभिः धर्मविशेषैः अनुग्रहः विद्यायाः सम्भवति'*** (सू.भा. ३.४.३८)।

३. नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः? न, धर्मजिज्ञासायाः प्रागपि अधीत वेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः। यथा च हृदयाद्यवदानानाम् आनन्तर्यनियमः क्रमस्य विवक्षित-त्वात्, न तथा इह क्रमो विवक्षितः। शेषशेषित्वे अधिकृताधिकारे वा प्रमाणाभावत्।

Maha Parivrajaka

३. यदि कहो कि इसमें कर्मज्ञान का आनन्तर्य विशेष है, तो ऐसा नहीं है। जिसने वेदान्त का अध्ययन किया है, उसे धर्मजिज्ञासा के पूर्व में भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। और जैसे हृदय आदि के अवदान में आनन्तर्य का नियम है, क्योंकि क्रम की विवक्षा है, वैसे यहाँ क्रम की विवक्षा नहीं है। धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा में शेषशेषिभाव अथवा अधिकृताधिकार मानने में प्रमाण नहीं है।

(३.१) ऊपर 'पूर्वप्रकृतापेक्षाया: आनन्तर्य' के विषय में कहते समय 'धर्म-जिज्ञासानन्तर' इतना कहकर जिसे छोड़ दिया था, अब उस पूर्वपक्ष की चर्चा को उठा रहे हैं। 'धर्म-ब्रह्म जिज्ञासा दोनों के लिये, पहले वेदाध्ययन होना आवश्यक है। संहिताओं से कर्मावबोध होने के बाद', अर्थात् 'धर्मजिज्ञासा से कर्मज्ञान को पाने के बाद, उपनिषदों से ब्रह्मजिज्ञासा होती है'; इस विशेष से अथ को क्या आनन्तर्य अर्थ में कह सकते है?' यह पूर्वपक्ष है। इस पर सिद्धान्ती कहता है कि ऐसा कुछ नहीं है। वेदान्त का, यानी उपनिषदों का अध्ययन जिसने किया है, उसे धर्मजिज्ञासा से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है। इस के समर्थन में भाष्यकार तीन कारण देते हैं:-

पशुबलि में ***'हृदयस्य अग्रे अवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षस:'***-पहले हृदय के अग्र भाग को काटना है, फिर जीभ को और फिर छाती को (तै. सं. ६.३.१०.१०) - यह क्रम बताया गया है। धर्म-ब्रह्म जिज्ञासाओं में इस प्रकार का क्रम नहीं कहा गया है। इसके प्रमाण में जाबाल श्रुति कहती है कि बिना गृहस्थ बने ही सीधा ब्रह्मचर्य से संन्यास ले सकते हैं (जा. उ. ४); अर्थात्, गृहस्थाश्रम में होनेवाले कर्मज्ञान से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा कर सकते हैं।

इससे आगे बताते हैं कि शेषशेषित्व के लिये भी प्रमाण नहीं है। शेष होता है अंगकर्म; बिना अंगकर्म के अंगीकर्म अपूर्ण होता है। इस प्रकार के अंग-अंगीत्व, शेष-शेषित्व के लिये धर्मब्रह्मजिज्ञासाओं में प्रमाण नहीं है। उसी प्रकार अधिकृत-अधिकार के लिये भी प्रमाण नहीं हैं। अधिकृत माने जिसका उस कर्म में अधिकार है। अंगीकर्म के लिये जो अधिकृत है, उसी का अंगकर्म में भी अधिकार है। उदाहरण के लिये, दर्शपूर्णमासयाग के लिये गोदोहन में अप्प्रणयन करना अंगकर्म है। इसका विवरण इस प्रकार है:-चमस नामक लकड़ी का एक पात्र होता है। इसमें अप् (जल) भरना अप्प्रणयन कहलाता है। दर्शपूर्णमास करने के लिये जो अधिकृत है, वह यदि पशुकामी हो तो उसे अप्प्रणयन् गोदोहन (गोक्षीर निकालने के पात्र) में करना होता है। दर्शपूर्णमास में जो अधिकृत होता है वही गोदोहन में अप्प्रणयन करने का अधिकारी होता है, और कोई नहीं। इस प्रकार की अधिकारिता में यानी कि, 'जो कर्म में अधिकृत है वही ब्रह्मज्ञान का भी अधिकारी है', कोई प्रमाण नहीं है।

४. धर्मब्रह्मजिज्ञासयो: फलजिज्ञास्य भेदाच्च। अभ्युदयफलं धर्मज्ञानम्, तच्च

Maha Parivrajaka

अनुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मज्ञानम्, न च अनुष्ठानान्तरापेक्षम्। भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यः न ज्ञानकाले अस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं, नित्यत्वात् न पुरुषव्यापारतन्त्रम्।

४. धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासा दोनों के फल और विषय में भेद है। धर्म के ज्ञान का फल अभ्युदय है और वह अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। ब्रह्मज्ञान का फल तो मोक्ष है और उसे अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं है; धर्मजिज्ञासा का विषय जो धर्म है वह उत्पन्न होने वाला है; वह ज्ञानकाल में नहीं है क्योंकि वह पुरुष व्यापार के अधीन है। जिज्ञासा का विषय जो ब्रह्म है, वह नित्य होने के कारण पुरुषव्यापार के अधीन नहीं है।

(४.१) अब धर्मजिज्ञासा से पहले भी ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है, इसका दूसरा कारण बतलाते हैं। उदाहरण के लिये, धर्मजिज्ञासा से ज्योतिष्टोमयाग कर्म के ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसका जो फल है वह पुरुषव्यापाराधीन है; अर्थात्, कर्मज्ञानमात्र से फल नहीं है; यागकर्माचरण के बाद ही फलप्राप्ति होती है। यह फल कर्म समाप्त होते ही नहीं मिलता है, प्रतीक्षा करनी पड़ती है। बाद में मिलने वाला फल अनित्य भी है। लेकिन ब्रह्मजिज्ञासा इससे पूर्णतया विलक्षण है। इसका फल मोक्ष पुरुषव्यापाराधीन नहीं है; अर्थात्, ब्रह्मज्ञान प्राप्त्यनन्तर मोक्ष किसी अनुष्ठान से मिलनेवाला नहीं है, ज्ञानप्राप्ति समकाल में ही मिल जाता है, प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यह फल नित्य भी है। इसलिये, श्रुतिप्रमाणसिद्ध इस भेद को जानने वाला मुमुक्षु धर्मजिज्ञासा में आसक्त नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि 'धर्म जिज्ञासानन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा होती है' यह कथन स्वीकार्य नहीं है।

५. चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणम्, सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषम् अवबोधयति। ब्रह्मचोदना तु पुरुषम् अवबोधयत्येव केवलम्। अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वात् न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथा अक्ष-अर्थ सन्निकर्षेण अर्थावबोधे, तद्वत्। तस्मात् किमपि वक्तव्यं यदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यते इति।

५. चोदनाओं (वेदवाक्यों) की प्रवृत्ति के भेद के कारण भी। जो वेदवाक्य धर्म में प्रमाण हैं वे पुरुष को स्वविषय (धर्म) में प्रवृत्त कराते हुये ही बोध कराते हैं। ब्रह्मचोदना तो पुरुष को बोधमात्र ही कराते हैं। अवबोध चोदना से ही हो जाने से, वे पुरुष को बोध में प्रवृत्त नहीं करते। जैसे इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष से ही पदार्थज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार। इसलिये, जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश किया जाता है, उसको कहना चाहिये।

(५.१) अब तीसरा कारण बतलाते हैं–

Maha Parivrajaka

यहाँ चोदना का अर्थ है वेदवाक्य। लक्षण का अर्थ है प्रमाण। धर्म में जो वेदवाक्य प्रमाण हैं वे पुरुष को विधि-निषेध में चोदित करते हैं। लेकिन ब्रह्मबोधक उपनिषदवाक्य ब्रह्म और ब्रह्म-आत्मा के सम्बन्ध को समझाने के अलावा पुरुष को कहीं प्रवृत्त नहीं करते-प्रचोदन नहीं करते। असल में तो किसी भी ज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होती। उदाहरण के लिये, आंख 'यह रूप है', इस प्रकार समझाने के अलावा पुरुष को किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं करती।

भाष्यकार इस प्रकार इन तीन कारणों से सिद्ध करते हैं कि धर्मब्रह्मजिज्ञासा इसी क्रम में होने के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

इस संबन्ध में कुछ और आक्षेप एवं समाधान इस प्रकार हैं:-

आक्षेप:-***'तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'***-इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं (बृ. ४.४.२२)। ***'न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यम् पुरुष: अश्नुते'***-कर्मों का आरंभ किये बिना (अर्थात् न करने से) पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता (गीता ३.४)। इस प्रकार, श्रुति-स्मृति में कर्मानन्तर ही ज्ञान का अधिकार बताया गया है। और कुछ नहीं तो कम से कम जब तक हम कर्म नहीं करेंगे तब तक हमें कर्मफल की अनित्यता कैसे समझ आयेगी?

परिहार:-ऐसा नहीं है। गतजन्मों में किये हुये कर्मानुष्ठान द्वारा ही, इस जन्म में पुन: कर्म न करके, ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी हो सकता है।

आक्षेप:-परन्तु कम से कम देव-ऋषि-पितृ ऋणत्रय को चुकाना तो हमारा कर्तव्य है न?

परिहार:-ऐसा नहीं है। इन ऋणों को चुकाना गृहस्थ के लिये कर्तव्य है। पीछे उद्धृत जाबाल श्रुति के अनुसार ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास के लिये अनुमति होने के कारण यह कर्तव्यपूर्ति ज्ञानाधिकार के लिये अनिवार्य नहीं है।

आक्षेप: छान्दोग्य उपनिषद में वर्णित उद्‌गीथ उपासनाओं में ब्रह्मदृष्टि का विधान किया गया है। यह दृष्टि ब्रह्मजिज्ञासा से ही प्राप्त हो सकती है। इसलिये ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मोपासना की अंग ही हो गयी न?

परिहार:-इन उपासनाओं में जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है वह सगुण ब्रह्म है। यह ठीक है कि सगुणब्रह्मोपासना निष्काम भाव से करने पर चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होती है; लेकिन, इस सूत्र में कहा हुआ ब्रह्म निर्गुण ही है (जिसका निर्णय द्वितीयाध्याय में होता है)। निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान कर्मांगं नहीं हो सकता, यह हमें चौथे सूत्र के भाष्य में स्पष्ट होगा।

इस प्रकार निर्णय होता है कि 'धर्मजिज्ञासानन्तर ही ब्रह्मजिज्ञासा हो सकती है' ऐसा कहने में प्रमाण

Mana Parivrajaka

नहीं है। लेकिन, 'अथ' शब्द का आनन्तर्य अर्थ तो स्वीकारा ही गया है। इसलिये, प्रश्न उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा किसके अनन्तर होती है? इस प्रश्न का उत्तर है:–

६. उच्यते, नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोगविरागः शमादिसाधन संपत् मुमुक्षुत्वं च। तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासायाः ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च, न विपर्यये। तस्मात् अथशब्देन यथोक्तसाधनसंपत्त्यानन्तर्यम् उपदिश्यते।

६. (उसको) बतलाते हैं–नित्य और अनित्यवस्तु का विवेक, इस लोक और परलोक में विषयभोग के प्रति विराग, शम, दम आदि साधनसम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। इतना होने पर धर्मजिज्ञासा के पहले या बाद में भी ब्रह्मज्ञान की इच्छा हो सकती है और (ब्रह्म) ज्ञान भी हो सकता है। इन (चार साधनों) के बिना नहीं हो सकते। इसलिये, 'अथ' शब्द पूर्वोक्त साधनसम्पत्ति से आनन्तर्य का उपदेश करता है।

७. अतः शब्दो हेत्वर्थः। यस्मात् वेद एव अग्निहोत्रादीनां श्रेयःसाधनानाम् अनित्यफलतां दर्शयति ''तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते'' (छां. ८.१.६) इत्यादिः। तथा ब्रह्मविज्ञानादपि परं पुरुषार्थं दर्शयति ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै. २.१) इत्यादिः। तस्मात् यथोक्तसाधनसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या।

७. 'अतः' शब्द हेतुवाचक है। 'जैसे यहाँ (खेती आदि से उपार्जित) भोग्यपदार्थ क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार परलोक में पुण्य से सम्पादन किये हुये लोकों का क्षय हो जाता है' (छान्दोग्य ८.१.६), इत्यादि श्रुतिवाक्य कल्याण के साधक अग्निहोत्र आदि के फल (स्वर्ग आदि) की अनित्यता दर्शाते हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्म को जानने वाला मोक्ष प्राप्त करता है' (तै. २.१) इत्यादि श्रुतियां ब्रह्मज्ञान से ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति बताती हैं। इसलिये, उपर्युक्त साधनसम्पत्ति प्राप्त करने के पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये।

(७) कुछ स्थलों पर श्रुति में कहा गया है कि 'सोमपान करके मरणरहित हो गये' इत्यादि; इससे लगता है कि स्वर्गादि फल नित्य हैं। वेद ही बाद में कहता है कि वह अनित्य है। यहाँ नित्य कहा है कर्म के स्तुत्यर्थ में। परन्तु श्रुति ही कहती है कि ब्रह्मविज्ञान से होनेवाला मोक्ष नित्य है। इसलिये, साधन संपत्युपेत साधक ही ब्रह्मजिज्ञासा कर सकता है।

८. ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा। ब्रह्म च वक्ष्यमाण लक्षणम् ''जन्माद्यस्य यतः'' इति। अत एव न ब्रह्मशब्दस्य जात्याद्यर्थान्तरम् आशङ्कितव्यम्।

८. ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा है। आगे 'जन्माद्यस्य यत:' इस सूत्र में जिसका लक्षण कहा जायेगा, वह ब्रह्म है। इसी कारण से यह शंका नहीं करनी चाहिये कि 'ब्रह्म' शब्द का जाति आदि कोई दूसरा अर्थ है।

(८.१) ब्रह्म शब्द का ब्राह्मण जाति, चतुर्मुख ब्रह्माजी, वेद, जीव आदि अर्थ भी श्रुति, स्मृति में मिलता है। यहाँ ब्रह्मशब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं हुआ है। जगत् के जन्म, स्थिति और लय के कारणरूप में ही हुआ है।

९. ब्रह्मणः इति कर्मणि षष्ठी न शेषे, जिज्ञास्यापेक्षत्वात् जिज्ञासायाः जिज्ञास्यान्तर अनिर्देशाच्च। ननु शेषषष्ठीपरिग्रहेऽपि ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं न विरुध्यते, संबंध सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात्? एवमपि प्रत्यक्षं ब्रह्मणः कर्मत्वम् उत्सृज्य सामान्यद्वारेण परोक्षं कर्मत्वं कल्पयतो व्यर्थः प्रयासः स्यात्। न व्यर्थः, ब्रह्माश्रित अशेषविचार-प्रतिज्ञानार्थत्वात् इति चेत्? न। प्रधानपरिग्रहे तदपेक्षितानाम् अर्थाक्षिप्तत्वात्। ब्रह्म हि ज्ञानेन आप्तुमिष्टतमत्वात् प्रधानम्। तस्मिन् प्रधाने जिज्ञासा कर्मणि परिगृहीते यैर्जिज्ञासितैर्विना ब्रह्म जिज्ञासितं न भवति तानि अर्थाक्षिप्तान्येव इति न पृथक् सूत्रयितव्यानि। यथा ''राजासौ गच्छति'' इत्युक्ते सपरिवारस्य राज्ञो गमनम् उक्तं भवति, तद्वत्।

९. 'ब्रह्मण:' यह कर्मवाचकषष्ठी है, शेषवाचकषष्ठी नहीं है; क्योंकि जिज्ञासा को जिज्ञास्य की अपेक्षा रहती है और (ब्रह्म के सिवा) दूसरे जिज्ञास्य का निर्देश भी नहीं है। यदि ऐसा कहो कि शेषषष्ठी के ग्रहण करने में भी ब्रह्म के जिज्ञासा का कर्म होने में कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि जो सम्बन्धसामान्य का वाचक है, वह विशेषसम्बन्ध को भी दिखलाता ही है? तो इस प्रकार भी ब्रह्म के प्रत्यक्ष कर्मत्व को छोड़ कर सामान्यसम्बन्ध द्वारा परोक्ष कर्मत्व की कल्पना करने में व्यर्थ प्रयास होगा। यदि ऐसा कहो कि यह प्रयास व्यर्थ नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के आश्रित सब पदार्थों के विचार की प्रतिज्ञा करना प्रयोजन है? तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि प्रधान का परिग्रह होने पर, उसकी अपेक्षा रखनेवाले सब पदार्थों की अर्थत: स्वीकृति हो जाती है। ज्ञान से प्राप्त करने के लिए इष्टतम (अत्यन्त इष्ट) ब्रह्म है, अत: वह प्रधान है। जिज्ञासा के कर्म उस प्रधान का ग्रहण होते ही जिनकी जिज्ञासा हुए बिना ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती, उन सबकी अर्थत: स्वीकृति हो ही जाती है, इसलिए सूत्र में उनको अलग कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे 'यह राजा जाता है' ऐसा कहने से ही परिवारसहित राजा के गमन का कथन हो जाता है, इसके अनुसार।

MahaPariwraaka

(९.१) ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा–जानने की इच्छा जिज्ञासा है। 'ब्रह्मणो जिज्ञासा' में 'ब्रह्मण:–ब्रह्म की' इस प्रकार षष्ठी विभक्ति है। पष्ठी विभक्ति दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकती है। एक:- ब्रह्म से सम्बन्धित विषयों को जानने की इच्छा। इसको कहा जाता है शेषषष्ठी। दूसरा- सीधा ब्रह्म को ही जानने की इच्छा–यह है कर्मषष्ठी। इस सूत्र में कौन सी षष्ठी को लेना है? अर्थात्, जिज्ञासा का कर्म क्या ब्रह्म से संबंधित विषय है? या स्वयं ब्रह्म ही जिज्ञासा का विषय है? ऐसा पूछने पर कहते हैं–

पूर्वपक्षी:–शेषषष्ठी में ब्रह्म से संबंधित सब कुछ ही चर्चा में आ जाता है। इसलिये उसमें ब्रह्म भी सम्मिलित है ही। अत: यहाँ शेषषष्ठी को ही रखना उचित है।

सिद्धान्ती:–यह ठीक है। फिर भी शेषषष्ठी में प्रामुख्यता तो ब्रह्मसंबंधी विषयों के ज्ञान की ही हो जाती है और ब्रह्म का ज्ञान गौण हो जाता है। लेकिन कर्मषष्ठी में ऐसा नहीं है; इसमें प्रामुख्यता ब्रह्मज्ञान की ही होगी और ब्रह्मसंबंधी विषयों का सम्बन्ध गौण होगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मसम्बन्धी विषयों का ज्ञान छूट जाता है। बल्कि ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्मसम्बन्धी विषयों का ज्ञान भी हो ही जाता है; इसलिए व्यर्थ प्रयास से बच सकते हैं। लेकिन ब्रह्मसम्बन्धी विषयों के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। यहाँ ब्रह्मसंबंधी विषय क्या है? जगत् ही ब्रह्मसंबंधी विषय है। भाष्यकार के दृष्टान्त में ब्रह्म राजा है तो, जगत् की वस्तुएँ उसका परिवार है। बृहदारण्यभाष्य में भाष्यकार इसको ऐसे समझाते हैं:-

पूर्वपक्षी: किन्तु ज्ञात न होने में समान होने के कारण, आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं। फिर ***'आत्मेत्येवोपासीत'*** इस कथन के अनुसार आत्मोपासना में ही क्यों यत्न करने की आस्था की जाये, अनात्मोपासना में क्यों नहीं?

सिद्धान्ती: इस पर हमारा कथन है कि यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय, अर्थात् गन्तव्य है, अन्य अनात्मा नहीं। श्लोक में आये 'अस्य सर्वस्य' है इन पदों में निश्चयार्थिका षष्ठी है; इसका तात्पर्य है 'अस्मिन् सर्वस्मिन्' (इस सब में)। 'यदयात्मा' का अर्थ होता है जो यह आत्मतत्त्व है (वह सबमें है)।

तो क्या अन्य (अनात्मा) ज्ञातव्य नहीं है? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? ज्ञातव्य होने पर भी उसे जानने के लिये आत्मज्ञान से भिन्न कोई अलग ज्ञान नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये? क्योंकि इस आत्मा को जान लेने पर अन्य जो कुछ अनात्मजात है, उस सबको पुरुष जान लेता है।

अनिर्ज्ञातत्वसामान्यात् आत्मा ज्ञातव्य: अनात्मा च। तत्र कस्मात् आत्मोपासने एव यत्न आस्थीयते 'आत्मेत्येवोपासीत' इति, न इतर विज्ञाने इति? अत्र उच्यते–तद् एतद् एव प्रकृतं पदनीयं गमनीयं न अन्यत्। 'अस्य सर्वस्य' इति निर्धारणार्था षष्ठी। अस्मिन् सर्वस्मिन् इति अर्थ:। 'यदयमात्मा' यदेतदात्मतत्त्वम्। किं न विज्ञातव्यम् एव अन्यत्? न। किं तर्हि, ज्ञातव्यत्वे अपि न पृथग्ज्ञानान्तरम् अपेक्षते आत्मज्ञानात्। कस्मात्? अनेनात्मना ज्ञातेन हि यस्माद् एतत् सर्वम् अनात्मजातम् अन्यद् यत् तत् सर्वं समस्तं वेद जानाति (बृ.भा. १.४.७)।

[यहाँ कथित आत्मा प्राज्ञ है जो ब्रह्म ही है और अनात्मा कार्यजगत् भी ब्रह्म है। इन दोनो का अनिर्ज्ञाततत्वसामान्य ही दोनों ओर से होनेवाले अध्यास का हेतु है। यह भी स्पष्ट होता है कि अनात्मा मिथ्या नहीं हो सकता। कार्यजगत् का अनात्मत्व अविद्याकल्पित है–*'अविद्ययैव अनात्मत्वं परिकल्पितं, न तु परमार्थतः आत्मव्यतिरेकेण अस्ति किंचित्* (बृ. भा. २.४.१४)]। इसलिये, ब्रह्म से संबंधित विषयों का ज्ञान इष्टतम नहीं है, ब्रह्मज्ञान ही इष्टतम है। इस प्रकार, ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मसंबंधित विषयों का ज्ञान भी हो जाने के कारण सूत्र उनको पृथक् नहीं समझाता।

सूत्र का लक्षण ये कहा गया है–

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।।

'बिना अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किये, सारवत्, अलग अलग दृष्टिकोणों से विचार करने के लिये अवकाश देने वाला, निर्दोष रूप से, अल्पाक्षरों में निस्संदिग्ध रूप से विषय समझाने वाला सूत्र कहा जाता है।

१०. श्रुत्यनुगमाच्च। ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै.३.१) इत्याद्याः श्रुतयः ''तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म'' (तै. ३.१) इति प्रत्यक्षमेव ब्रह्मणो जिज्ञासाकर्मत्वं दर्शयन्ति। तच्च कर्मणि षष्ठीपरिग्रहे सूत्रेण अनुगतं भवति। तस्मात् ब्रह्मणः इति कर्मणि षष्ठी।

१०. 'यतो वा०' (जिससे ये प्राणी उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ 'तद्विजिज्ञासस्व०' (उसकी जिज्ञासा कर, वह ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म ही जिज्ञासा का कर्म है, ऐसा प्रत्यक्ष दिखलाती है और कर्मवाचकषष्ठी मानने से ही सूत्र के अनुसार होती है। इसलिए, 'ब्रह्मणः' यह कर्मवाचकषष्ठी है।

११. ज्ञातुम् इच्छा जिज्ञासा। अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म। फलविषयत्वादिच्छायाः। ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुं इष्टं ब्रह्म। ब्रह्मावगतिर्हि पुरुषार्थः। निश्शेष-संसारबीज-अविद्यादि-अनर्थ-निबर्हणात्। तस्माद् ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्।

११. जानने की इच्छा–जिज्ञासा है। अवगतिपर्यन्त ज्ञान सन्वाच्य इच्छा का कर्म है, क्योंकि इच्छा का विषय फल है। ब्रह्म की अवगति ज्ञानप्रमाण से इष्ट है। ब्रह्म की अवगति ही पुरुषार्थ है। क्योंकि उससे नि:शेष संसार की बीजरूप अविद्या आदि अनर्थों का नाश होता है। इसलिये ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

Maha Parivraajaka

(११.१) जिज्ञासा का अर्थ है *'ज्ञातुम् इच्छा–जानने की इच्छा'*। जिज्ञासा में जो *'सा'* है वह सन् प्रत्यय है। सन् प्रत्यय इच्छावाचक होता है और यहाँ इच्छा का कर्म ज्ञान है। आरंभ में ही कहा गया है कि विषय के अनुसार बुद्धि में उत्पन्न होने वाला प्रत्यय ही ज्ञान है। हरेक परिच्छिन्न विषय का ज्ञान इस प्रकार तदनुसार बुद्धिप्रत्यय रूप में ही समाप्त होता है। इतना कहने के बाद ब्रह्मज्ञान के विषय में उठने वाली समस्या यह है कि ब्रह्म का कोई आकार नहीं है; तो फिर ब्रह्मज्ञान बुद्धि में कैसे प्रकट हो सकता है? इस आक्षेप का समर्थन सा करती हुयी श्रुति भी कहती है ***'अप्राप्य मनसा सह'***–ब्रह्म मन से भी अप्राप्य है (तै २.४)। परन्तु, एक और श्रुति कहती है ***'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'*** –ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिये (बृ.४. ४.१९)। ये दोनों वाक्य परस्परविरुद्ध हैं। इनके समन्वय से ही भाष्यकार कथित ***'अवगतिपर्यन्तं ज्ञानं सन्वाच्याया इच्छायाः कर्म'***–*अवगतिपर्यन्त ज्ञान ही सन्वाच्य इच्छा का कर्म है*, इस वाक्य में अवगति पद का अर्थ निश्चय होगा। इस समन्वय का क्रम इस प्रकार है:–

(११.२) बुद्धि सदा असत्य–जड़–परिच्छिन्न वस्तुओं का ज्ञान पाने में व्यस्त रहती है। इसलिये वह मलिन, अस्वच्छ और स्थूल हो जाती है। ऐसी बुद्धि के लिये सत्य–ज्ञान–अनन्त ब्रह्म अप्राप्य ही है। लेकिन, साधन–संपत्तियुक्त साधक की बुद्धि जब ब्रह्म के समान निर्मल–स्वच्छ–सूक्ष्म हो जाती है तब उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात्, उसकी बुद्धि ब्रह्म की तरह निराकार और निष्प्रचार (वृत्तिरहित) हो जाती है (गीता. भा. ६.२०)। ***'अत्यन्तनिर्मलत्व अतिस्वच्छत्व अतिसूक्ष्मत्व उपपत्तेः आत्मनः बुद्धेः च आत्मसमनैर्मल्याद् उपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्व उपपत्तिः'***–आत्मा अतिनिर्मल, अतिस्वच्छ और अतिसूक्ष्म है। आत्मा के ही समान निर्मल, स्वच्छ और सूक्ष्म बुद्धि आत्मचैतन्य के आकार से आभासित हो सकती है (गी.भा. १८.५०)। यहाँ कथित आत्मा ब्रह्म ही है। इस प्रकार की निष्प्रचार बुद्धिवृत्ति ही ब्रह्म का ज्ञान है। ***'अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितं. ...ज्ञानं....ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा अभिन्नं....सत्यं ज्ञानं अनन्तम् इत्यादि श्रुतिभ्यः'***–*सर्वकल्पनारहित. ...ज्ञान.....परमार्थसद्रूप* ज्ञेय ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सत्य–ज्ञान–अनन्त ब्रह्म इत्यादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है (मां. का. भा. ३.३३)।

अब अवगति (अनुभव) क्या है और ब्रह्मज्ञान से अवगति की प्राप्ति किस प्रकार होती है, यह समझना शेष है।

(११.३) इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये भाष्यवाक्य ***'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म'***–ज्ञान प्रमाण से ब्रह्म की अवगति इष्ट है–मार्ग दिखाता है। अवगति का अर्थ है *'मैं स्वयं ब्रह्म हूँ'* इस प्रकार का अनुभव। यहाँ निष्प्रचार ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति को ब्रह्मवगति में प्रमाण कहा गया है। इस प्रमाण का प्रमेय क्या है? इसका प्रमाता कौन है? प्रमेय तो ब्रह्म ही हो सकता है क्योंकि सत्य–ज्ञान–अनन्त लक्षणों के आधार पर जब ब्रह्म को समझने लगता है तभी यह असाधारण बुद्धिप्रत्यय प्राप्त होता है। यह प्रत्यय कम से कम तत् काल में तो सत्य ही है अर्थात् विकाररहित है; अनन्त है अर्थात् परिच्छिन्न नहीं है। केवल सत्य और अनन्त ही नहीं इसमें ज्ञानलक्षण भी है।

Maha Pariwajaka

प्रश्नः उसमें ज्ञानलक्षण भी है यह कैसे कह सकते हैं?

उत्तरः परिच्छिन्न वस्तुओं के ज्ञान में विशेषण और विशेष्य, ये दोनों रहते हैं। उदाहरण के लिये, घट के ज्ञान में घट विशेषण है और 'ज्ञान' विशेष्य है। विशेषज्ञान में विषय के अनुसार विशेषण बदलते रहते हैं; इसलिये विशेषज्ञान असत्य है। जब कोई विशेषण नहीं रहता तो एक अकेला विशेष्यज्ञान ही बच जाता है। यही ब्रह्म का अद्वितीयलक्षण ज्ञान यानि ज्ञप्ति है (तै.भा.२.१)। ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति निर्विशेष होने के कारण वह यह ज्ञान (विशेष्य ज्ञान) ही है। इस प्रकार, ब्रह्माकाराभास इस निष्प्रचार निर्विशेष बुद्धिवृत्ति का प्रमेय ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय हो जाता है। ***'ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्म ज्ञेयम्'***–जो ब्रह्म अपने को ज्ञेय है वह ज्ञेयब्रह्म है (मा. का. भा. ३.३३)। अब प्रश्न है कि प्रमाता कौन है। उत्तर है कि जिस बहिष्प्रज्ञ जिज्ञासु में यह बुद्धिवृत्ति पैदा होती है वही प्रमाता है।

(११.४) अब प्रश्न उठता है कि अवगति क्या है? ब्रह्मात्मैकत्व अनुभव ही अवगति है। उपर्युक्त ज्ञान ही इसका प्रमाण है। इसमें प्रमाता स्वयं ही है और प्रमेय ब्रह्म है; इसलिये, इस प्रमाता-प्रमेय व्यवहार में एकत्व नहीं है। एकत्वप्राप्ति का क्रम इस प्रकार है:–ब्रह्म सदा ज्ञप्ति ही है; लेकिन, ब्रह्माकाराभासवृत्तिज्ञान बुद्धि में पैदा होनेवाला ब्रह्म का प्रतिबिंब है–ज्ञप्ति आभास है, ज्ञप्ति ही नहीं है। वह सदा उसी प्रकार नहीं रहता इसलिये असत्य है। अत:, उसको 'मैं' समझना सम्यग्ज्ञान नहीं है। और प्रमाता के लिये प्रमेय ब्रह्म को स्वयं समझना दुस्साध्य भी है। लेकिन स्वयं के और प्रमेय ब्रह्म के बीच में रहनेवाला जो प्राज्ञ है वह ब्रह्म भी है और स्वयं भी है। कैसे? उसमें ब्रह्म के तीनों लक्षण है; यह ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं, ब्रह्म ही है। 'यह जल के समान स्वच्छ है, अद्वितीय है। इसलिये यही अभय यही परमात्मा है। यही जीव की परमगति है, परमसंपत्ति है, परमलोक है, परमानन्द है–***सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति.....एषास्य परमागतिः एषास्य परमासंपत् एषोऽस्य परमो लोकः एषोऽस्य परम आनन्दः'*** (बृ.४.३.३२)।

और प्राज्ञ में 'स्वयं ब्रह्म हूँ' यह अवगत्यभाव रहने से वह स्वयं भी है। जिस ब्रह्म की अपने को ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा समझना है, वह यही है (बृ.१.४.१०)। पूर्वोक्त ज्ञानप्रमाण से पहले ही ब्रह्म की प्रत्यक्ष जानकारी हो चुकी है। सुषुप्ति में ब्रह्मलक्षणों का अनुभव भी हो रहा है। इसलिये प्राज्ञ का अपने को 'स्वयं ब्रह्म हूँ' यह समझना दुस्साध्य नहीं है। ***'तेन आत्मस्वरूपेण अजेन ज्ञानेन अजं ज्ञेयम् आत्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते'***–वह ज्ञान अज है, अपना स्वरूप है, अज ज्ञेय के द्वारा 'आत्मतत्त्व स्वयं है' इस प्रकार समझता है, निश्चय करता है (मा. का. भा. ३.३३)। इसलिये 'मैं ब्रह्म हूँ' इस शास्त्रजनितज्ञान के अनुसार जिज्ञासु की बुद्धि का प्रवाह सतत आत्मा की ओर ही रखना है। निदिध्यासन नाम की इस ज्ञाननिष्ठा में बुद्धिसंबंध क्रम-क्रम से छूट जाने के कारण उसमें प्राज्ञत्व भी छूट जाता है। इस प्रकार ज्ञानप्रमाण से आरंभ हुयी ज्ञाननिष्ठा का जब ब्रह्मात्मैकत्व अवगति में पर्यवसान होता है तब जिज्ञासु आत्मैकत्व में स्थापित हो जाता है। महावीर्यों के लिये यह शीघ्र सिद्ध हो सकता है; हीनवीर्यों को बहुत जन्म भी लग सकते हैं, क्योंकि

Maha Parivrajaka

भगवान् ने ही कहा है–‘***बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते***’–बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है (गीता ७.१९)। इसलिये, बहुत जन्म अनिर्विण्ण होकर ज्ञाननिष्ठा में रहते हुये अवगति प्राप्त करनी है। ब्रह्म सर्वात्मक होने के कारण यह अवगति जाग्रत्–स्वप्नों में सर्वात्मभाव के रूप में प्रकट होती है। युष्मत्–अस्मत् दोनों प्रत्ययों का लोप हो जाता है। इससे सर्वानर्थनाश होता है। इसलिये, यही परमपुरुषार्थ है। अत: आत्मकाम को ब्रह्म की जिज्ञासा करनी आवश्यक है।

(११.५) और एक प्रश्न है–ऊपर कण्डिका (७) में ‘***ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या***’–ब्रह्मजिज्ञासा करनी चाहिये कहा है। फिर कण्डिका (११) में भी वही–‘***ब्रह्म विजिज्ञासितव्यम्***’–ब्रह्म की विशेष जिज्ञासा करनी चाहिये, कहा है। तैत्तिरीयभाष्य में ‘***ब्रह्म विजिज्ञासस्व***’–ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा करो (तै. भा.३.१)कहा है। इन तीनों वाक्यों का अर्थ है ‘ब्रह्मज्ञान की इच्छा करनी चाहिये’। लेकिन इस अर्थ का इतरवाक्यों से समन्वय नहीं होता है; क्योंकि ‘***तस्मात् किम् अपि वक्तव्यं यद् अनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा उपदिश्यते इति***’–जिसके अनन्तर ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश किया जाता है उसको कहना चाहिये, इस प्रकार प्रश्न को रखकर, उत्तर के रूप में ‘साधनसंपत्ति के अनन्तर’ यह कहा है। साधनसंपत्ति में मोक्षेच्छा अन्तर्गत है। ज्ञानप्राप्ति के द्वारा होनेवाली अवगति ही मोक्ष है; इसलिये, मुमुक्षु को यह कहना कि वह ज्ञान की या अवगति की इच्छा करे, इसमें अर्थ नहीं है। इस कारण से ही पीछे कहा है कि ‘***अथ शब्द न अधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्***’–अथ शब्द का अर्थ आंरभ नहीं है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा का आंरभ नहीं किया जा सकता। इसलिये, यहाँ पर किसकी इच्छा करने के लिये कह रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है:– जिज्ञासा पद का ‘ज्ञातुम् इच्छा–जानने की इच्छा’ केवल यही एक अर्थ नहीं है। रुढ़ि में ‘विचार’ के अर्थ में भी जिज्ञासा पद का प्रयोग होता है। इस उपकण्डिका के आरंभ में आये भाष्यवाक्यों का यही अर्थ है। अत: ‘ब्रह्मजिज्ञासा करो’ का अर्थ है ‘ब्रह्मविचार करो’। ब्रह्मज्ञान के लिये ब्रह्मविचार करना ही है क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान बुद्धि में ब्रह्मविचार से पैदा होनेवाली ब्रह्माकारवृत्ति ही है।

‘जैसे धर्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि प्रमाण है, ब्रह्मजिज्ञासा में उस प्रकार नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा में तो श्रुति आदि और अनुभव आदि यथासंभव प्रमाण होते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरमसीमा अनुभव है–***न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम् किन्तु श्रुत्यादयः अनुभवादयः च यथासम्भवम् इह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।***’ (सू.भा. १.१.२)

१२. तत् पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा स्यात्। यदि प्रसिद्धम्, न जिज्ञासितव्यम्। अथ अप्रसिद्धम्, नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते। अस्ति तावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावम्, सर्वज्ञम्, सर्वशक्तिसमन्वितम्। ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयः अर्थाः

प्रतीयन्ते। बृंहतेर्धातोः अर्थानुगमात्। सर्वस्य आत्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मि इति। यदि हि नात्मास्तित्व प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मि इति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म।

१२. वह ब्रह्म प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध हो सकता है। यदि प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा करने की आवश्यकता नहीं है, यदि अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा हो ही नहीं सकती। (इस शङ्का का समाधान) कहते हैं–नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्तस्वभाव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्म प्रसिद्ध है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति से 'बृह्' धातु के अर्थ के अनुसार नित्यशुद्ध इत्यादि अर्थों की प्रतीति होती हैं। सब की आत्मा होने से भी ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। सबको आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है, 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान किसी को भी नहीं होता। यदि आत्मा का अस्तित्व प्रसिद्ध न होता, तो सब लोगों को 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान होता। और आत्मा ब्रह्म ही है।

(१२.१) 'ब्रह्मजिज्ञासा, अर्थात् ब्रह्मविचार करना है', इतना कहने के बाद यह आक्षेप उठाया जाता है**:** यदि ब्रह्म प्रसिद्ध है, अर्थात् सब उसे जानते हैं तो, उसकी जिज्ञासा अनावश्यक है। यदि वह अप्रसिद्ध है, अर्थात् कोई नहीं जानता है, तो उसकी जिज्ञासा असाध्य है। इसलिये, ब्रह्म की जिज्ञासा कैसे हो सकती है?

इसका परिहार इस प्रकार है:– ब्रह्म प्रसिद्ध नहीं है इसलिये जिज्ञासा आवश्यक है। वह अप्रसिद्ध भी नहीं है इसलिये जिज्ञासा साध्य है। अर्थात्, ब्रह्म इस रूप में प्रसिद्ध है कि सबको उसका 'यह कुछ है' इस प्रकार का सामान्यज्ञान तो रहता ही है और अप्रसिद्ध इस अर्थ में है कि उसका स्पष्ट विशेषज्ञान नहीं होता।

प्रत्याक्षेपः सामान्य लोगों ने तो ब्रह्म शब्द भी कभी नहीं सुना है। फिर यह कैसे कह सकते है कि ब्रह्म प्रसिद्ध है?

ब्रह्म शब्द जिन्होंने सुन रखा है उनके लिये परिहार:– ब्रह्म शब्द की व्युत्पति से ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म सिद्ध होता है। ब्रह्म शब्द 'बृहि वृद्धौ–जो बिना व्यवधान के वृद्धि को प्राप्त हो', इस धातु से व्युत्पन्न हुआ है। इसके अनुसार 'बृंहणात् ब्रह्म' (व्यापक होने से ब्रह्म कहलाता है), इस व्युत्पति से ब्रह्म की देश, काल, वस्तु आदि से अपरिच्छिन्नतारूप नित्यता प्रकट होती है, अर्थात् अपने स्वरूप की हानी बिना किये वह वृद्ध है। इससे ब्रह्म का नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव समझ में आता है। 'कैसे समझ आता है?'– वृद्ध होने से पहले जैसा था वृद्धि को प्राप्त होने के बाद भी वैसा ही है; इसलिये वह नित्यशुद्ध है। कोई प्रतिबन्ध या अवधि न होने के कारण वह नित्यमुक्त है। इतना ही नहीं, वृद्धि को प्राप्त करने के कारण ब्रह्म चेतन ही है, इसलिये वह नित्यबुद्ध भी है। इस प्रकार ब्रह्म शब्द के अर्थ के अनुसार ब्रह्मवस्तु का अस्तित्व निश्चय होता है।

और सब–चाहे वे ब्रह्म शब्द के अर्थ को जानने वाले हों, न जानने वाले हों, पंडित हो, पामर हों–ब्रह्म

Maha Parivrajaka

को जानते ही हैं। उन्हें ब्रह्म का सामान्यज्ञान है। 'कैसे'? पूछा तो उत्तर है कि प्रत्यगात्मा प्राज्ञ सर्वानुभव से सिद्ध है। ऐसा कोई नहीं है जो इसे न जानता हो। 'अपने को या इन भूतों को नहीं जानता है, सुषुप्ति के समय तो मानों ये विनाश को प्राप्त हुआ-सा दिखता है' (छा. ८.११.१)। तो भी 'सुषुप्ति के समय मैं नहीं रहा, मेरा नाश हो चुका था' ऐसा कोई नहीं बोलता। सुषुप्तिकाल में ही 'मैं कुछ नहीं जानता, सुख से हूँ' इस प्रकार का ज्ञान न रहने पर भी, उठने के बाद 'मैंने कुछ नहीं जाना सुख से सोया' ***'न किंचदवेदिषं सुखमहमस्वाप्सम्'*** यही अपने अनुभव को कहता है। इस प्रकार प्राज्ञ सुप्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, उस समय जो विशेषज्ञान का अभाव था और अनुभव किया हुआ आनन्दप्राचुर्य था, उसका कारण था प्राज्ञ को प्राप्त हुआ ब्रह्मत्व; अर्थात् 'आत्मा च ब्रह्म', प्राज्ञ ही ब्रह्म होने से ब्रह्म भी प्रसिद्ध ही है।

[यहाँ यह भी ध्यान करने योग्य है कि ब्रह्मप्रसिद्धि के लिये भाष्यकार द्वारा दी गयी उपपत्ति खरी नहीं उतरती है यदि हम प्रत्यगात्मा को तुरीयात्मा मानें, क्योंकि वह भी ब्रह्म जितनी ही अप्रसिद्ध है। इसलिये, अध्यासभाष्य की प्रत्यगात्मा तुरीयात्मा नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, इसी कण्डिका के भाष्यवाक्यों में वर्णित आत्मा भी प्राज्ञात्मा ही है। श्रुतिकथित ***'अयमात्मा ब्रह्म'*** इत्यादि के समान यहाँ ***'आत्मा च ब्रह्म'*** इस वाक्य में भी 'आत्मा' वही प्रत्यगात्मा है जिसने अभी तक अपने को स्वरूपतः ब्रह्म नहीं समझा है। ***'ब्रह्म अयम् आत्मा। कोऽसौ? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता'***-ब्रह्म यह आत्मा ही है। यह आत्मा कौन है? जो प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा (जाननेवाला)और विज्ञाता है (बृ.भा. २. ५.१९)।]

प्रश्नः यह कैसे समझें कि सुषुप्ति में प्रत्यगात्मा को ब्रह्मत्व प्राप्त होने के कारण ही विशेषज्ञान नहीं हुआ और आनन्दप्राचुर्य का अनुभव भी हुआ?

उत्तरः अविद्या के कारण जाग्रत् में अन्तःकरण, चक्षु और रूप आपस में अलग-अलग उपस्थापित रहते है। इसलिए विशेषज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन ब्रह्म से ये तीनों अभिन्न हैं। अतः एव चैतन्यस्वभाव का होने पर भी ब्रह्म में विशेषज्ञान नहीं है। इसी कारण से जब प्रत्यगात्मा को सुषुप्ति में ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है, तब उसे विशेषज्ञान नहीं होता।-***यद् हि तद् विशेषदर्शनकारणम् अन्तःकरणं चक्षुः रूपं च, तदविद्यया अन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन् काले एकीभूतम् आत्मनः परेण परिष्वंगात्। ....अयं तु सर्वात्मना संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेन आत्मना प्रिययेव पुरुषः। तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावात् विशेषदर्शनं नास्ति।*** (बृ. भा. ४.३.२३) और ब्रह्म परमानन्दस्वरूप भी है। इसलिए, प्रत्यगात्मा को उस समय परमानन्द की प्राप्ति भी हो जाती है।

१३. यदि तर्हि लोके ब्रह्म आत्मत्वेन प्रसिद्धमस्ति ततः ज्ञातमेव इति अजिज्ञास्यत्वं पुनरापन्नम्। न। तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः। देहमात्रं चैतन्यविशिष्टम् आत्मा इति प्राकृता

जनाः लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः। इन्द्रियाण्येव चेतनानि आत्मा इत्यपरे। मन इत्यन्ये। विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके शून्यमित्यपरे। अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्ता इत्यपरे। भोक्तैव केवलं न कर्ता इत्येके। अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तः इति केचित्। आत्मा स भोक्ता इत्यपरे। एवं बहवो विप्रतिपन्नाः युक्ति-वाक्य-तदा-भास-समाश्रयाःसन्तः। तत्र अविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानः निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत। अनर्थं च इयात्। तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधतर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते।

१३. यदि लोगों में ब्रह्म आत्मारूप से प्रसिद्ध है, तो वह ज्ञात ही है, इसलिए उसकी जिज्ञासा नहीं बनती ऐसा (आक्षेप) दुबारा आता है। ऐसा नहीं है, क्योंकि उसके विशेषज्ञान में मतभेद है। चैतन्य-विशिष्ट देहमात्र आत्मा है, ऐसा प्राकृतजन और लोकायतिक (चार्वाक) मानते हैं। दूसरे कहते हैं कि चेतन इन्द्रियां ही आत्मा हैं। अन्य कहते हैं कि मन ही आत्मा है। कोई कहते हैं कि क्षणिक-विज्ञानमात्र आत्मा है। दूसरों के मत में आत्मा शून्य है। देहादि से भिन्न, संसारी, कर्ता, और भोक्ता आत्मा है, ऐसा (मीमांसक आदि) और मानते हैं। कोई कहते हैं (सांख्यवादी) कि आत्मा केवल भोक्ता ही है, कर्ता नहीं। किसी का कहना है (द्वैती) कि जीव से भिन्न ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न है। वह भोक्ता है, ऐसा कोई मानते हैं। इस प्रकार युक्ति, वाक्य और उनके आभास के आधार पर बहुत से मतभेद हैं। उनका विचार किए बिना जिस किसी मत को ही ग्रहण करनेवाले मोक्ष से हट जायँगे और उन्हें अनर्थ भी प्राप्त होने लगेगा। इसलिए, ब्रह्मजिज्ञासा के कथन द्वारा, जिसमें अविरुद्धतर्क साधनभूत हैं और जिसका प्रयोजन मोक्ष है, ऐसे वेदान्तवाक्यों की मीमांसा आरम्भ करते हैं।। १ ।।

(१३.१) इस प्रकार यदि प्रत्यगात्मा के रूप में ब्रह्म प्रसिद्ध ही है तो ये आक्षेप पुनः उठता है कि ब्रह्मजिज्ञासा अनावश्यक है। 'सब को प्रत्येक दिन ब्रह्म का अनुभव हो ही रहा है, तो उसकी चर्चा क्या करनी है?' पूछा तो – ऐसा नहीं है। केवल उसका अस्तित्व अनुभव में है। लेकिन उसका स्वरूप क्या है? यह हम नहीं जानते, कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का हमें सामान्यज्ञान है, विशेषज्ञान नहीं। भाष्यकार कहते हैं ***'तद्विशेषं प्रति विप्रतिपत्तेः'***–उसके विशेषज्ञान के बारे में विरुद्ध अभिप्राय हैं। (यह आत्मा प्राज्ञ न होकर तुरीय होता तो इस वाक्य से समन्वय नहीं होता क्योंकि तुरीय का तो सामान्यज्ञान भी किसी को नहीं होता)। परिणामस्वरूप नास्तिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी, तार्किक और मीमांसक, सांख्य, ये सब लोग प्रत्यगात्मा को, जो कि ब्रह्म ही है, अलग-अलग ढंग से समझाते हैं। द्वैतवादी ***'आत्मा च ब्रह्म'***–वही

ईश्वर है यह स्वीकार न करके ईश्वर को उससे अलग बताते हैं। कुछ लोग उसे भोक्ता कहते हैं। सब अपने-अपने पक्ष के प्रतिपादन के लिये युक्तियों और प्रमाणवाक्यों का ही प्रयोग करते हैं। तो भी, सबका सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता क्योंकि एक ही वस्तु के अनेक परस्परविरुद्ध स्वरूप नहीं हो सकते। इसलिये, इनमें से कौन सा ठीक है इसका बिना निश्चय किये केवल अन्धश्रद्धा से ही उनमें से एक को स्वीकार करने पर श्रेयस् की हानि हो जाती है, अनर्थ भी हो सकता है। अतः, मुमुक्षु को विचार करना ही चाहिये। कैसे विचार करना चाहिये? श्रुति से अविरुद्ध तर्क का आश्रय लेकर विचार करना चाहिये। ब्रह्मसूत्रभाष्य इस प्रकार ही विचार करता है।।१.१.१।।

Maha Parivrajaka

जन्माद्यधिकरण

१. ब्रह्म जिज्ञासितव्यमित्युक्तम्। किं लक्षणं पुनस्तद्ब्रह्म इति? अत आह भगवान् सूत्रकारः-

१. पीछे कहा गया कि ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये। प्रश्न होता है कि ब्रह्म के लक्षण क्या हैं? इस पर भगवान् सूत्रकार कहते हैं–

(१) श्रुति ब्रह्म के विषय में कहती है कि ***'एतत् अप्रमयम्'***–यह अप्रमेय है (बृ.४.४.२०), ***'अद्रेश्यम् अग्राह्यम्'***–अदृश्य, अग्राह्य है (मु.१.१.६) ***'अप्राप्य मनसा सह'***–मन से भी अप्राप्य है (तै. २.४) इत्यादि। यहाँ कथित जन्मादि जगत् के धर्म हैं, ब्रह्म के धर्म नहीं। ब्रह्म का तो जगत् से सम्बन्ध है ही नहीं। जब ऐसा है तो जगद्धर्म ब्रह्मज्ञान के लिये लक्षण कैसे हो सकते हैं? यह पूछा तो भाष्यकार कहते हैं– 'ठीक है, वाणी से हो, मन से हो, आंख से हो या अन्य इन्द्रियों से हो, इसका ज्ञान साध्य नहीं है। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, यह तो ज्ञात है ही कि ब्रह्म जगत्कारण है। इसलिये वह है ही–***नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते। तथापि सर्वविशेषरहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)'*** (क.भा.२.३.१२)। क्योंकि ब्रह्म का जगत्कारणत्व इस प्रकार निश्चित किया गया है, इसलिये, जगद्विशेषणों से संबंधित उसके लक्षण होने ही चाहिये। परन्तु श्रुति ने तो ब्रह्म (तुरीय) को अलक्षण कहा है (मा. ७)। इसलिये, जन्मादि किस प्रकार के लक्षण हैं? उत्तर यह है:- जिन जन्मादि धर्मों को और अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व को हम पहचान रहे हैं वह जगत् के हैं, परन्तु वास्तव में जो हम देख रहे हैं वह धर्मी ब्रह्म ही है। हमारा ध्यान पहले जन्मादि की ओर खींचा जाता है। अर्थात्, जन्मादि धर्मों से आरंभ करके धर्मी की ओर जाने से ही लक्ष्य ब्रह्म का दर्शन होता है। ब्रह्म के स्वरूप में जन्मादि व्यवहार भी नहीं, अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व गुण भी नहीं। इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप में न रहने पर भी ये सब ब्रह्म के लक्षण ही हैं।

(१.१) कुछ लोग ***'कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्'***–कभी दिखायी देने वाले गुण, जो एक वस्तु को दूसरी वस्तुओं से अलग करते हैं, वह तटस्थलक्षण है कहकर, जन्मादि को तटस्थलक्षण बताते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि, 'कभी एक बार देवदत्त के घर के ऊपर बैठा हुआ कौआ' के समान जन्मादि एक बार ही दिखने वाले धर्म नहीं हैं। ***'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'***–ईश्वर ने इस सूर्य चन्द्रादि रूप जगत् की पहले के समान सृष्टि की (ऋ.स.१०.१९०.३), यह श्रुति ही कहती है। जन्मादि चक्र तो अनादिकाल से अनंतकाल तक चलता ही रहता है। 'परमात्मा से यह जगत्, अग्नि से विस्फुलिङ्गों

Maha Parivrajaka

के समान सदा उत्पन्न होता रहता है, जिस परमात्मा में ही जल में बुलबुले के समान यह लीन हो जाता है तथा स्थितिकाल में जिसके स्वरूप से वर्तमान रहता है–***आत्मनः स्थावरजङ्गमं जगदिदम् अग्निविस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरति अनिशम्, यस्मिन् एव च प्रलीयते जलबुद्बुदवत् यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले'*** (बृ.भा.२.१.२०)। लेकिन ***'स्वरूपान्तरभूतत्वे सति इतरव्यावर्तकं तटस्थलक्षणम्'***–स्वरूपलक्षण से अलग गुणों से इतर वस्तुओं का व्यावर्तन करने वाला तटस्थलक्षण है, इस प्रकार तटस्थलक्षण की परिभाषा करने पर जगत् के जन्मादि या अनृतत्वादि ब्रह्म के तटस्थलक्षण हो जायेंगे; क्योंकि, स्वरूप में न रहने पर भी ये गुण ब्रह्म को लक्ष्य कर सकते हैं। 'कैसे कर सकते हैं?' पूछा तो ***'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'***–वह रूप रूप के प्रतिरूप हो गया, उसके रूप को समझाने के लिये (बृ.२.५.१९)। मनुष्य जैसे अपने अर्थ को वाग्रूप में प्रकट करता है, वैसे ही ब्रह्म जगद्रूप लेकर अपने स्वरूप को प्रकट कर रहा है। जो सम्बन्ध वाक् और अर्थ का है वही तादात्म्य सम्बन्ध क्षेत्रक्षेत्रज्ञ रूप जगत् और ब्रह्म का है। वाक् अर्थ को छोड़कर नहीं रह सकती, परन्तु अर्थ वाक् को छोड़कर भी रहता है। इसी प्रकार जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध है और इस तरह ही ब्रह्म में न रहने वाले जन्मादि या अनृतादि धर्म भी ब्रह्मस्वरूप को प्रकट कर सकते हैं।

जन्माद्यस्य यतः (सू. १.१.२)

अस्य–इस (जगत् का); जन्म आदि–सृष्टि आदि, यतः–जहाँ से (वह ब्रह्म है)

२. जन्म उत्पत्तिः आदिः अस्य इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थितिभंगं समासार्थः। जन्मनश्च आदित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत् ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै. ३.१) इत्यस्मिन् वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्। वस्तुवृत्तमपि जन्मना लब्धसत्ताकस्य धर्मिणः स्थितिप्रलयसंभवात्।

२. जन्म अर्थात् उत्पत्ति है जिसके लिए आदि–इस प्रकार यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। इस समास का अर्थ है जन्मस्थितिनाश। श्रुतिनिर्देश और वस्तुस्थिति की अपेक्षा से भी, जन्म का आदित्व सिद्ध होता है। श्रुतिनिर्देश है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'। इस वाक्य में जन्म, स्थिति और लय का क्रमशः दर्शन होता है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है क्योंकि जन्म से सत्ता को प्राप्त हुये धर्मी की ही स्थिति और लय का होना संभव है।

(२.१) जन्मादि का अर्थ यदि हम जन्म, स्थिति और भंग इस प्रकार पृथक-पृथक करेंगे तो यह सूत्र श्रुत्यर्थ का अनुसरण नहीं करेगा। श्रुति अनुसार होने के लिये इन तीनों को एक ही समास पद 'जन्मस्थितिभङ्गम्' में कहा गया है। इसका कारण यह है: यदि यह समास पद विशेष्य होता तो जब 'जन्म'

MahaParivrajaka

उसके विशेषण के रूप में समझा जाता तब विशेषण के साथ ही हम विशेष्य को समझे हैं ऐसा हो जायेगा। इस प्रकार किया हुआ समास तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास कहा जाता है। विशेष्य को विशेषण से अलग करके समझने पर अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास होता है। यह समास करने पर तो '**जन्मादि**' का अर्थ '**जन्म**' को छोड़कर केवल स्थिति-भंग मात्र को स्वीकार करने जैसा होगा। तब जगत् के जन्म के लिये एक कारण और स्थिति-भंग के लिये एक और कारण ऐसे दो कारण हो जायेंगे-जन्म के लिये निमित्त रूप से एक चेतन और उपादान कारण रूप से प्रधान या अणु इत्यादि जड़, ऐसा कह सकने की संभावना हो जायेगी। यह श्रुत्यनुगुण नहीं होगा क्योंकि श्रुति ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानती है। इसलिये, '**जन्मादि**' पद से '**जन्मस्थितिभंगम्**' इस प्रकार तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि को ही स्वीकार करना पड़ेगा। दूसरा विषय जन्मस्थितिभंग में रहनेवाले क्रम के विषय में है-सृष्टिपूर्ववस्तु जब सामने नहीं है तो किसका स्थितिभंग कह सकते हैं? किसी का नहीं। अर्थात्, सृष्टि से पूर्व स्थितिभंग की चर्चा नहीं हो सकती है। इसलिये जन्म ही पहला है। श्रुति भी 'जायन्ते-पैदा होते हैं, जीवन्ति-जीवित रहते हैं, अभिसंविशन्ति-लय होते हैं' से यही क्रम बताती है (तै ३.१)।

(२.२) ***'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'*** इस तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य में भूत का अर्थ है प्राणी (जीव)। इस सूत्र में जिन श्रुतिवाक्यों की चर्चा की गयी है उनमें आकाशादिरूप जड़जगत् की भी जन्मस्थितिभगं कही गयी है। इसलिये, सूत्र के 'अस्य-जगत् के' पद में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों है। ***'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैः जातावेतन्निदर्शनम्'***-घटाकाश जैसे जीवों के रूप से, घटादि जैसे संघातों के रूपों से आत्मा पैदा होता है। पैदा होने के लिए यह दृष्टान्त है। (मां. का. भा. ३.३)। अपरा प्रकृति के द्वारा प्रकट होने वाला क्षेत्र ब्रह्म ही है। इसका प्रमाण है: ***'सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्'***-व्यावहारिक प्रातिभासिक सत्यरूपी जगत् पारमार्थिक सत्य ही है। (तै भा. २.६)। और परा प्रकृति के द्वारा प्रकट होनेवाला क्षेत्रज्ञ भी ब्रह्म है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य इसमें प्रमाण हैं। और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों एक ही ब्रह्म हैं इसमें प्रमाण है ***'क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि'***-क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ (गी. १३.२)। अपरा के द्वारा क्षेत्र और परा के द्वारा क्षेत्रज्ञ दिखायी देता है। इस प्रकार अलग-अलग कहने पर भी अपरा के द्वारा सर्वप्रथम प्रकट होने वाला हिरण्यगर्भ क्षेत्रज्ञ ही है, और परा के द्वारा दिखायी देने वाले क्षेत्रज्ञ की प्राणोपाधि क्षेत्र ही है। सृष्टि करने के लिये नामरूपों का विशेषज्ञान और भूतसंसर्ग इन दोनों का होना आवश्यक है; परन्तु ये अविद्यायुक्त जीव में ही होते हैं, ईश्वर में नहीं। इसलिये प्रवृत्ति जीव में है, ईश्वर में नहीं। ***'परमात्मनः तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्'***-परमात्मा में स्वरूपाश्रय से उदासीनता है और माया के आश्रय से प्रवृत्ति है (सू. भा. २.२.७)। यहाँ माया का अर्थ है प्रवृत्ति का कारण-अहंकार, अर्थात् अविद्यासंयुक्त अव्यक्त-***'अहंकारः इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्........, प्रवर्तकत्वात् अहंकारस्य'*** (गी. भा. ७.४)। इस प्रकार, सारे विकारों

Mahaparivrajaka

का और सृष्टि आदि सारे व्यवहारों का उपादान ईश्वरी मायाशक्ति है और ईश्वर का प्रवर्तकत्व जीवों की अविद्या से है। इसी कारण से 'ब्रह्म जीवरूप से अनुप्रवेश करके नामरूपों को प्रकट करता है-***अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'*** (छा.६.३.२)। अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से ईश्वर पराप्रकृति प्राणोपाधि द्वारा क्षेत्रज्ञ रूप को प्राप्त कर सृष्टि आदि व्यवहार करता है।

प्रश्न: ऐसा कहने के स्थान पर हम 'जगत् का उपादान माया है और जगत् का निमित्त हिरण्यगर्भ है' यह कहकर ब्रह्म के उदासीन स्वरूप को क्यों न बचाये रखें?

उत्तर: ऐसा नहीं। ब्रह्मज्ञान के बिना आत्मैकत्वविद्या नहीं प्राप्त हो सकती और ब्रह्म में जगत्व्यवहार का अध्यारोप किये बिना ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता; ब्रह्म परोक्ष ही रह जाता है। इसलिये, ब्रह्म को ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहना है।

प्रश्न: ब्रह्म में न रहनेवाले व्यवहार का उसमें अध्यारोप करना झूठ बोलने के समान होगा न?

उत्तर: वेद झूठ नहीं बोलते हैं। माया हो चाहे हिरण्यगर्भ हो, ये ब्रह्म से अनन्य ही हैं; इसलिये, अध्यारोप झूठ नहीं है। जैसे घर बनाने का व्यवहार मजदूर का होने पर भी, जिससे उसको वेतन मिलता है उसके द्वारा ही घर बनाया हुआ है, ऐसा लोग कहते हैं। उसी प्रकार, जिसकी मायाशक्ति से हिरण्यगर्भ सृष्टि आदि व्यवहार करता है, उस ब्रह्म को जगत्कारण कहना अध्यारोपदृष्टि है, अविद्यादृष्टि नहीं। यह अध्यारोप है, अध्यास नहीं।

३. ''अस्य'' इति प्रत्यक्षादिसंनिधापितस्य धर्मिणः इदमा निर्देशः। षष्ठी जन्मादिधर्मसंबंधार्था।

३. ''अस्य'' इसमें प्रत्यक्ष आदि से संवेदित धर्मी का 'इदम्' शब्द से निर्देश है। षष्ठीविभक्ति जन्म आदि धर्म से धर्मी के सम्बन्ध का द्योतन करती है।

(३.१) यहाँ 'अस्य' पद का अर्थ है 'जगत् का'। जगत् धर्मी है और जन्म-स्थिति-भंग उसके धर्म हैं। धर्म धर्मी को छोड़कर नहीं रहते, लेकिन धर्मी धर्म को छोड़कर भी रहता है। वह कैसे?

उत्तर: जगत् सर्वदा है। ***'कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति'*** (सू.भा.२.१. १६)। जगत् का व्यक्त होना सृष्टि, व्यक्त रूप में रहना स्थिति और पुनः अव्यक्त हो जाना लय कहलाता है। अर्थात्, जगत् जन्मादि धर्मों को छोड़कर भी रहता है। उसी प्रकार, अनृतत्व, जड़त्व, परिच्छिन्नत्व जगत् के धर्म हैं; जगत् का उपादान है इन धर्मों के बिना रहने वाला ब्रह्म। इसलिये, ब्रह्म को छोड़कर जगत् नहीं है लेकिन ब्रह्म जगत् के बिना भी है। अनृत घटादि मृत् को छोड़कर नहीं रहते, परन्तु फिर भी मृद् अनृत नहीं, सत्य ही है। जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध भी ऐसा ही है। यह धर्म-धर्मी सम्बन्ध कार्य-कारण

Mana Parivrajaka

अनन्यत्वन्याय ही है (सू.भा.२.१.९)। इसी प्रकार, जन्मादि धर्म जगत् को छोड़कर नहीं हैं और जगत् ब्रह्म को छोड़कर नहीं है। इसलिये, जन्मादि और जगत् इस अर्थ में ब्रह्म के लक्षण हैं। क्षेत्र के जन्म, स्थिति और भंग ब्रह्म के उपलक्षण हैं; क्षेत्र के अनृतत्व, जड़त्व और परिच्छिन्नत्व ब्रह्म के धर्मलक्षण हैं; और सत्य ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के स्वरूपलक्षण हैं। उसी प्रकार, क्षेत्रज्ञ के जन्म, स्थिति और भंग ब्रह्म के उपलक्षण, प्रियमोदादि धर्मलक्षण और आनन्द स्वरूपलक्षण हैं।

इसलिये ब्रह्मसूत्र ब्रह्मजिज्ञासा का जन्मादि से आरंभ करके फिर विलक्षणत्वाधिकरण (ब्र.सू. २.१. अधि ३) और आरंभणाधिकरण (२.१ अधि ६) में अनृतजगत् का सत्यब्रह्म से अनन्यत्व दिखाकर उभय-लिङ्गाधिकरण (३.२. अधि ५) में ब्रह्म के निर्विशेषस्वरूप का निश्चय करते हैं। उसी प्रकार तदभावाधिकरण (३.२. अधि २) में दिखाया गया है कि क्षेत्रज्ञ का स्वरूप भी यही ब्रह्म है। क्षेत्र का स्वरूप जो ब्रह्म है, वही क्षेत्रज्ञ का भी स्वरूप है-यह समझना ही आत्मैकत्वविद्या है, न कि क्षेत्र को मिथ्या समझना। भाष्यकार चेतावनी देते हैं कि तद्विपरीत समझने वाला मोक्ष के लिये अनर्ह (अयोग्य) होगा (देखिये इसी ग्रन्थ में अध्यासभाष्य २५.२ अन्त्यभाग)।

कह चुके हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भिन्न स्वभाव के हैं (गी.भा.१३.२६)। क्षेत्र यदि असत् है तो उसका स्वभाव ही नहीं हो सकता। फिर सूत्रकार और भाष्यकार श्रम से कैसे दिखा सकते हैं कि असत् क्षेत्र का स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है? इस श्रम का अर्थ है:- ब्रह्म क्षेत्र का उपादान है इसलिये उसमें क्षेत्रधर्म नहीं है। यह निर्धर्म ब्रह्म ही प्राज्ञ है। इसलिये, प्राज्ञ में ही ब्रह्म के तीनों लक्षण हैं। प्राज्ञ स्वयं होने से सुषुप्ति में क्षेत्रधर्म का अभाव सबके अनुभव में है। इसलिये, अध्यास का मिथ्यात्व समझाते ही समझ में आ जाता है। यह बात अलग है कि अध्यास को छोड़ना अत्यन्त कठिन है।

४. ''यतः'' कारणनिर्देशः। अस्य जगतः नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेक कर्तृभोक्तृ-संयुक्तस्य प्रतिनियत-देश-काल-निमित्त-क्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभंगं यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति ''तद् ब्रह्म'' इति वाक्यशेषः।

४. 'यतः' से कारण का निर्देश है। नाम-रूप से प्रकट हुआ, अनेक कर्ता-भोक्ता से संयुक्त, देश, काल और निमित्त के अनुसार क्रियाफल का आश्रय, मन से भी जिसकी रचना के स्वरूप का विचार नहीं हो सकता, ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है यह वाक्यशेष है।

(४.१) इस परिच्छेद का उद्देश्य यह बताना है कि जगत्कारण ब्रह्म सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। इस के दृढ़ीकरण के लिये अनुमान की सहायता से कुछ और वर्णन करते हैं-

(अ) जगत् नामरूपों से व्याकृत है। ***'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते'***–वह धीर सारे रूपों को व्याकृत करके उनके नाम रखकर बुला रहा है (तै.आ.३.१२.७) इसलिये, जगत्कारण कोई जड़तत्त्व नहीं हो सकता, चेतन ही होना है। ***'सः अकामयत'***–उसने इच्छा की (तै.२.६) ***'सः ईक्षत, सः ईक्षांचक्रे'***–उसने देखा (ऐ १.१.१; प्र ६:३) इत्यादि मन्त्र यही बताते हैं।

(आ) जगत् में कर्तृ-भोक्तृ जीव समाविष्ट हैं। इस जन्म के कर्मफल भोगते समय कर्ता ही भोक्ता है। यदि पिछले जन्मों का कर्मफल है तो अभी कर्ता न होकर भोक्ता होता है। चूंकि कर्ता-भोक्ता सृष्टि में सम्मिलित हैं इसलिये कारणब्रह्म कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता।

(इ) नियतदेश-काल-निमित्त-क्रियाफल-आश्रयः–कर्ता का कर्म ही क्रिया है; और आगे भोक्ता बनकर जिस कर्मफल को वह भोगेगा वही फल है। यह देशकालनिमित्तों के आधार पर ही होता है। जगत् में दिखायी देने वाले देश, काल और निमित्त कार्यकोटि में ही हैं, इसलिये कारणब्रह्म इनसे परे है।

(ई) मनसा अपि अचिन्त्य रचना रूपः- कई शताब्दियों से बड़े-बड़े वैज्ञानिक अनुमान प्रमाण के आधार पर जगत्स्वरूप को ढूंढ रहे हैं, लेकिन उनका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अवांतरकारणों को समझाने में एक हद तक सफल होने पर भी मूलकारण का अनुमान से निश्चय नहीं हो सकता। हाँ, इतना अवश्य निश्चय हो गया है कि अनुमान से उसका निश्चय नही होगा! क्यों? व्याप्तिज्ञान के आधार पर ही व्याप्य को देखकर अनुमान से व्यापक का निश्चय किया जाता है। अवांतरकारण के निश्चय में उपमान और अर्थापत्ति के आधार पर व्याप्तिज्ञान होना संभव है, लेकिन मूलकारण के विषय में नहीं क्योंकि वह पूर्वदृष्ट नहीं। इसलिये, यह निश्चय होता है कि अनुमान से मूलकारण का निश्चय नहीं हो सकता।

(४.२) प्रश्नः ऊपर कहा गया कि देश और काल सृष्टि में ही सम्मिलित हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्य-ये काल के लक्षण हैं। दिखायी देते समय जगत् का स्थितिकाल है, न दिखते समय लयकाल हैं। इसलिये, काल को स्वीकार करने पर ही जगत् के जन्म, स्थिति और भंग सिद्ध होंगे; अर्थात्, काल को कारणकोटि का होना पड़ेगा। लेकिन यहाँ तो सृष्टि में होने के कारण काल को कार्यकोटि में ही लिया गया है, इसका समन्वय कैसे होगा?

उत्तरः काल दो हैं:- पहला तो वह है जिसकी हम अतीत, वर्तमान, भविष्य-ऐसी गणना कर सकते हैं। यह सापेक्षकाल है। इस सापेक्षकाल का आधार एक दूसरा काल है जो कि गणना के लिये प्राप्त नहीं होता-यह निरपेक्षकाल है। सापेक्षकाल का निश्चय किसी घटना की अपेक्षा से ही होता है। यह काल बदलनेवाला, गणना के लिये मिलनेवाला और क्षयस्वभाव का है, जैसे सूर्योदयकाल। निरपेक्षकाल न बदलने वाला है, न ही उसकी गणना ही की जा सकती है, अर्थात् अक्षय है, जैसे सूर्य में ही रहनेवाला काल होता है-वहाँ पर न उदय है न अस्त। गणना के लिये मिलने वाला सापेक्षकाल ब्रह्म है-***'कालः कलयताम्***

Maha Pariwrajaka

अहम्' (गी. १०.३०)। जिसकी गणना नहीं की जा सकती वह अक्षय काल भी ब्रह्म ही है–***'अहम् एव अक्षयः कालः'*** (गी. १०.३३)। जैसे–जैसे घटनाओं का विकास होता है अक्षयकाल ही सापेक्षकाल के रूप में व्यक्त होने लगता है–***'कालः अस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'*** (गी. ११.३२)। इसलिये सापेक्ष काल कार्य है और निरपेक्षकाल उसका उपादान है; वह ब्रह्म ही है। कारणकोटि में आनेवाला यह निरपेक्ष, अग्राह्यकाल ही सृष्टिरूपी घटना की उपाधि से सापेक्षकाल के रूप में अनुभव को प्राप्त होता है। निरपेक्षकाल ऐसा नहीं है।

देश और सापेक्षकाल सब कुछ इसी प्रकार पहले सद्रूप में ही रहते हैं। सृष्टि के बाद अपने सद्रूप को न छोड़कर ही देशकाल बुद्धिगोचर होते हैं। ब्रह्म से इनका संबंध मृद्-घट के समान कारण-कार्य जैसा ही है। ***'प्रागुत्पत्तेः अव्याकृतनामरूपभेदम् आत्मभूतम् आत्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं जगत् इदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वात् अनेकशब्दप्रत्ययगोचरम् आत्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं च'***–उत्पत्ति से पूर्व यह आत्मभूत जगत् नामरूपादिभेद व्यक्त न होने के कारण एक 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का ही विषय था और इस समय नामरूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है (ऐ भा. १.१.१)।

(४.३) प्रश्नः कुम्हार अपनी बुद्धि में रहनेवाली नामरूप की स्मृति के आधार पर ही घट को बनाता है। लेकिन ब्रह्म के तो करण नहीं हैं, वह तो अप्राण है, अमन है (मुं.२.१.२)। इसलिये, इस जटिल नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि के लिये ब्रह्म निमित्त कैसे हो सकता है?

उत्तरः अल्पज्ञ जीवों के द्वारा घटादि की सृष्टि में करणों की आवश्यकता देखकर यह कहना कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को भी उनकी आवश्यकता होगी ठीक नहीं है। सिद्ध पुरुषों का किसी बाह्य साधन की अपेक्षा न करके भी सृष्टि करना ज्ञात ही है (सू.भा.२.१.२५)। जीव का भी सुषुप्ति में अकेले रहकर स्वप्नसृष्टि करने का दृष्टान्त है ही। इतना होने पर भी, अन्य प्रमाणों को न मिलने वाले विषयों को ही समझाने वाले श्रुतिवाक्यों पर अन्य प्रमाणों के आधार पर आक्षेप करना ठीक नहीं है। बिना किसी करण के अकेले ब्रह्म द्वारा इस विचित्र सृष्टि की रचना ही उसका सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व है।

(४.४) आक्षेपः ब्रह्म सर्वदा कुछ न कुछ समझता या करता ही नहीं रहता। कम से कम प्रलयकाल में तो समझने को या करने को कुछ नहीं है। इसलिये, केवल ज्ञानरूप ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कैसे कह सकते हैं?

परिहारः ब्रह्म केवल ज्ञानस्वरूप है। इसीलिये उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। ***'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यम् अस्ति सः असर्वज्ञः इति विप्रतिषिद्धम्'***–सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जिसका ज्ञान नित्य है उसे असर्वज्ञ कहना विरुद्ध है (सू.भा. १.१.५)। वह 'सर्वज्ञ स्वभाव

है–***स: सर्वज्ञस्वभाव:'*** (ऐ.भा.१.१.१); लेकिन उसमें सर्वज्ञत्व का व्यवहार नहीं है, क्योंकि व्यवहार बुद्धि आदि उपाधि से ही हो सकता है। निरुपाधिक स्वरूप में व्यवहार नहीं हो सकता। व्यवहार रहे या न रहे, ब्रह्म अपने स्वरूप में सर्वज्ञ ही है। सर्वज्ञत्व विशेषण नहीं, स्वरूप है। लेकिन सर्वज्ञत्वव्यवहार विशेषण है। ब्रह्म के सर्वशक्तित्व को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

(४.५) आक्षेपः सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व जीव में नहीं है। इसलिये, जीवेश्वरैकत्व नहीं हो सकता न?

परिहारः सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व का व्यवहार जीव में न रहने के कारण ईश्वर जीव से अलग ही है। आगे भाष्यकार कहेंगे भी कि जीव सृष्टि आदि व्यवहार नहीं कर सकता। परन्तु निरुपाधिक स्वरूप में जीव सर्वज्ञ ही है। ***'सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः'***–ज्ञानी को सर्वज्ञत्व सदा यहाँ है (मां. का. भा. ४.८९)। इसलिये, अविद्यारहित ज्ञानी के विषय में तो सृष्टि आदि उसी से है। यह पहले ही कहा जा चुका है।

प्रश्नः ऐसा मानने पर तो बहुत से ईश्वर हो जायेंगे?

उत्तरः ज्ञानी को यदि देहादि उपाधि से समझा तो यह दोष आ सकता है। लेकिन ऐसा समझना गलत है क्योंकि वह निरुपाधिक आत्मा ही है; जो एक ही है; वह ईश्वर है।

प्रश्नः ईश्वर एक ही है इसे कैसे समझें?

उत्तरः सत्य, ज्ञान, अनन्त उसका स्वरूप है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ बुद्धि में होने वाली ज्ञानक्रिया से उत्पन्न विशेषज्ञान नहीं है। यहाँ 'ज्ञान' का अर्थ है निरुपाधिक ज्ञप्ति। यह एक ही है, एक से अधिक नहीं हो सकती; और एक यदि कुछ भी होगा तो वह ज्ञेय ही होगा। इसी प्रकार आनन्द भी। वह भी निरुपाधिक ही है, दूसरे को दिखायी देनेवाला विषयसुख नहीं है। इसलिये, सर्वोपाधिरहित सुषुप्ति में अनुभव किया गया आनन्द और निर्विशेषज्ञान सब में एक समान ही होता है। यह सकललोकप्रत्यक्ष है।

प्रश्नः परा और अपरा प्रकृति नित्य हैं (गी.भा. १३.१९)। इसलिये, लयकाल में भी वे हैं ही; ऐसा है तो ब्रह्मैकत्व कैसे सिद्ध होगा?

उत्तरः घड़े नाना होने पर भी मृद्रूप से जैसे एक ही हैं, वैसे ही यहाँ भी है। नानात्व व्यक्त करने वाले स्थितिकाल में ही जब परमार्थदृष्टि से एकत्व है, तब लयकाल के विषय में क्या कहना? तब भी एकत्व ही है, क्योंकि प्रकृतियां ब्रह्म से अनन्य ही हैं। ***'सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वात्'***–वह शक्ति ब्रह्म ही मैं हूँ क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता (गी. भा. १४.२७), ***'मम स्वभूता मदीया माया'***– मेरी स्वरूपभूत मेरी माया (गी. भा. १४.३) इत्यादि।

५. अन्येषामपि भावविकाराणां त्रिष्वेव अन्तर्भावः इति जन्मस्थितिनाशानाम् इह

Maha Parivrajaka

ग्रहणम्। यास्क परिपठितानां तु जायते अस्ति इत्यादीनां ग्रहणे तेषां जगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वात् मूलकारणात् उत्पत्तिस्थितिनाशाः जगतो न गृहीताः स्युः इत्याशङ्क्येत। तन्माशङ्कि इति या उत्पत्तिः ब्रह्मणः तत्रैव स्थितिः प्रलयश्च त एव गृह्यन्ते।

५. अन्य भावविकारों का भी इन तीनों में ही अन्तर्भाव है, इसलिए जन्म, स्थिति और नाश का यहाँ ग्रहण किया है। यास्कमुनि से पठित 'जायते, अस्ति,' इत्यादि (छह भावविकारों) का यदि ग्रहण किया जाये, तो जगत् के स्थितिकाल में उनकी सम्भावना होने से मूलकारण से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का ग्रहण नहीं किया होगा–ऐसी कोई शङ्का करेगा। यह शङ्का कोई न करे, इसलिये जिस ब्रह्म से इस जगत् की जो उत्पत्ति, उसी में जो स्थिति और उसी में जो लय श्रुति में कहे गये, वे ही जन्म, स्थिति और लय यहाँ गृहीत होते हैं।

(५.१) सूत्र में कथित जन्म-स्थिति-भंग सम्पूर्ण जगत् को अन्वय होते हैं। निरुक्तकर्ता यास्क मुनि तो अलग से वस्तुओं के छह विकारों को बताते हैं: जायते-पैदा होना; अस्ति-विद्यमान होना; वर्धते-बढ़ना; विपरिणमते-अवस्थान्तर को प्राप्त होना; अपक्षीयते-क्षीण होना; नश्यति-नष्ट होना। ये छहों विकार जगत् के स्थितिकाल में रहनेवाली वस्तुओं को भी अन्वय हो सकते हैं। इसका उदाहरण है एक वृक्ष । एक वृक्ष के कारण के रूप में पृथ्वी ही पर्याप्त है, ब्रह्म को कारण कहने की आवश्यकता नहीं है। इस सूत्र में यदि इन छह विकारों को ही लिया हुआ मानें तो क्या यह किसी अवान्तर कारण को ही कहता है (जैसे वृक्ष के लिये पृथ्वी) या ब्रह्म को कहता है ? ऐसी शंका उत्पन्न हो सकती है। 'ऐसी शंका न होने दो। सूत्र मूलकारण को ही कह रहा है–यह स्पष्ट होने दो', इस उद्देश्य से ही, जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होती है, उसी में जगत् की स्थिति और लय को भी स्वीकार किया गया है।

प्रश्नः यास्क के विकारों का अन्तर्भाव करने के लिये क्या प्रमाण हैं?

उत्तरः ***'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः'*** (ऋ.स.१०.१९०.३) इत्यादि श्रुति स्पष्टरूप से ईश्वर को ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति, लय का कारण बताती हैं।

६. न यथोक्त विशेषणस्य जगतः यथोक्तविशेषणम् ईश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानात् अचेतनात्, अणुभ्यः अभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभावयितुं शक्यम्। न च स्वभावतः विशिष्टदेशकालनिमित्तानाम् इह उपादानात्।

६. पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की उक्त विशेषण (विशिष्ट) ईश्वर के सिवा अन्य किसी से–प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव (शून्य) से, अथवा संसारी से, उत्पत्ति आदि

की सम्भावना नहीं की जा सकती। स्वभाव से भी जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ विशेष देश, काल और निमित्त आवश्यक हैं।

(६.१) यहाँ बता रहे हैं कि इस जटिल जगत् का कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। सांख्यसिद्धान्त कहता है कि जड़ प्रधान अपने आप परिणाम को प्राप्त होकर जगदाकार लेता है; परन्तु जड़तत्त्व के इस प्रकार कार्य करने के लिये कोई दृष्टान्त नहीं है। दूध के दही होने के समान यदि प्रधान का जगत्कारणत्व स्वीकार किया जाये, तो भी अपने अपने कर्मफलों से जीवो का संयोग जड़ प्रधान नहीं करा सकता। इसलिये, प्रधान जगत् का कारण नहीं हो सकता (सू.भा. २.२. अधि. १)।

आगे वैशेषिकों की कल्पना है कि अणु उपादान है और कर्ता-भोक्ता आत्मा निमित्त है। सू.भा.२.२. १२-१७ में दिखाया गया है कि उनका यह सिद्धान्त व्याघातदोष से पूर्ण है।

अगले अभाववादी बौद्ध हैं। वे कहते हैं कि बीज के नाश से ही वृक्ष पैदा होता है इसलिये बीजाभाव ही वृक्ष का कारण है। परन्तु, अगर यह पूछा जाये कि 'आम के बीज का अभाव ही आम के वृक्ष का कारण क्यों है? इमली के बीज के अभाव से आम का वृक्ष क्यों नही उत्पन्न हो सकता?', तो उनके पास कोई उत्तर नहीं है। इतना ही नहीं, उनका कथन गलत भी है, क्योंकि बीज के अन्दर वृक्ष सूक्ष्म रूप में रहता है और उसी का परिणाम होकर पेड़ के बड़े होते-होते बीज का नष्ट होना प्रत्यक्ष है। इसलिये, कुतर्क से बीजाभाव को वृक्ष का कारण बताना कोई विवेकी स्वीकार नहीं करेगा। सब जानते ही हैं कि जगत् जीव से नहीं आता। '***न च गिरिनदी समुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेषु अनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यम् अस्ति***'-गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकार के नाम और रूपों की सृष्टि करने का सामर्थ्य अनीश्वर जीव में नहीं है (सू.भा.२.४.२०)।

आगे स्वभाव से ही जगत् होने की बात है। परन्तु स्वभाव से ही कुछ होने का अर्थ क्या है? देश, काल और एक व्यवहारनिमित्त चेतन, इनमें किसी की भी अपेक्षा न करके कुछ उत्पन्न होना ही स्वभावजन्य होता है। इसका कोई दृष्टान्त नहीं मिलता है। जड़ का अर्थ ही है 'जो अपने आप कुछ नहीं कर सकता'; इसलिये, बिना किसी चेतन निमित्त के जगत् की सृष्टि होना असाध्य ही है। अत: 'मनसा अपि अचिन्त्य' जगत् की सृष्टि सर्वज्ञ और सर्वशक्त ईश्वर से ही हो सकती है, और किसी से नहीं।

(६.२) यहाँ एक प्रश्न उठता है:- ब्रह्मजिज्ञासा से आरंभ करके अचानक सर्वज्ञसर्वशक्त ईश्वर को जगत्कारण कहने का औचित्य क्या है? यह ईश्वर कौन है? ब्रह्म से इसका क्या सम्बन्ध है?

उत्तर: सन्मात्र ब्रह्म अव्यवहार्य ज्ञानस्वरूप है। उसको सीधा समझना असाध्य है। उसको समझाने के लिये शास्त्र अनुसरण करने का क्रम यह है:-

ब्रह्मशक्ति प्रकृति ब्रह्म से अलग नहीं है। परन्तु फिर भी प्रकृति को ब्रह्म से अलग-सा मानकर उसे

ब्रह्म की उपाधि कहा जाता है। यही है अध्यारोप। इस प्रकृत्युपाधि से लक्षित ब्रह्म ही ईश्वर है। जगत् की उपादान अव्यक्त नाम की जड़शक्ति है, जो इस प्रकृति का एक अंग है। दूसरी है क्रियाशक्ति प्राण। अव्यक्तरूप अंकुर से होकर महदादि से आरंभ करके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगत् को धारण करने के लिये (गी. ७.५) आवश्यक शक्ति ही प्राण है (सू.१.३.३.९)।

इस अव्यक्त में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छिपे हैं-***'अविद्याद्यनेकसंसारबीज-रूपमन्तर्दोषवत् माया'*** (गी. भा. १२.३)। यही ईश्वर में सृष्टिप्रवृत्ति उत्पन्न करती है। जीवों के भोग और अपवर्ग के लिये जगत्सृष्टि होती ही रहती है। इस व्यवहार के निर्वहण के लिये शास्त्र ब्रह्म को ही ईश्वर रूप में कहता है। जीवों की अविद्यादृष्टि में स्वयं, नामरूप, ब्रह्म, ये सब अलग-अलग है; परन्तु परमार्थदृष्टि में जगत् प्रकृति से अनन्य है और प्रकृति ब्रह्म से अनन्य है-***'कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेः च आत्मभूतं कार्यं'*** (सू.भा.२.१.१८)। इसलिये, सर्वस्व ब्रह्म है, इस ब्रह्मैकत्व को समझाने के लिये एकमेवाद्वितीय ब्रह्म में भिन्नत्व की कल्पना करके, उसी की स्वरूपभूता प्रकृति को उसकी उपाधि कहकर व्यावहारिक जगत् को सिद्ध करना अध्यारोप है। यह नहीं किया तो हम ब्रह्म को नहीं समझ सकते। कार्य-कारणअनन्यत्वन्याय से एकमेवाद्वितीय ब्रह्म को समझते ही अध्यारोप का अपवाद हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म-ईश्वर भेद केवल वाचारंभण ही है।

७. एतदेव अनुमानं संसारि-व्यतिरिक्त-ईश्वर-अस्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वर-कारणिनः। ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे? न। वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्। वेदान्तवाक्यानि हि सूत्रैः उदाहृत्य विचार्यन्ते वाक्यार्थ-विचारण-अध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः न अनुमानादि प्रमाणान्तरनिर्वृत्ता।

७. ईश्वर को (जगत् का) कारण माननेवाले (नैयायिक) इसी अनुमान को संसारी (जीव) से पृथक् ईश्वर की सत्तासिद्धि के लिए साधन मानते हैं। तो क्या इस जन्मादि सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया है? नहीं, वेदान्तवाक्यरूपी फूलों को गूँथना ही सूत्रों का प्रयोजन है। सूत्रों से वेदान्तवाक्यों का उदाहरण देकर विचार किया जाता है। वाक्यार्थ-विचार से जो तात्पर्य निश्चय होता है, उससे ब्रह्मज्ञान निष्पन्न होता है, अनुमान आदि प्रमाणान्तर से निश्चय नहीं होता।

(७.१) ऊपर जन्मादि को तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समासार्थ में लेने पर जगत् का ब्रह्मोपादानत्व अन्तर्गत हो जाने पर भी, अभी तक निमितत्त्व का ही विचार चल रहा है। यह सिद्ध किया गया कि जगत् का निमित्तकारण सर्वज्ञ, सर्वशक्त ईश्वर ही है। परन्तु यह तो अनुमान से भी सिद्ध हो सकता है। **संदेहः**-तो फिर 'जन्मादि सूत्र भी इस अनुमान का अनुवाद करके ईश्वर को सिद्ध करता रहा होगा क्या?'

परिहारः नहीं। अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला ईश्वर प्रमाता जीव का प्रमेय ही बनेगा। ऐसे में प्रमेय से प्रमाता का एकत्व अनुभव को नहीं मिलेगा। इसलिये, अनुमित ईश्वर परोक्ष ही रह जायेगा। लेकिन श्रुत्युक्त ईश्वर ऐसा नहीं है। सन्मात्र होने पर भी जो जगत्कारण है, और जगत्कारण होने पर भी जो सन्मात्र है, ऐसा यह श्रुत्युक्त परमगंभीर ब्रह्म–सत्य, ज्ञान, अनन्त होकर, प्राज्ञ को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव को प्राप्त होता है। यहाँ सत्यत्व अपने अर्थ को छोड़े बिना अनृतकार्य का व्यावर्तक है, अनन्तत्व परिछिन्नत्व का व्यावर्तक है। अनृतत्त्व, परिच्छिन्नत्व कल्पित नहीं हैं व्यावहारिक सत्य हैं। तात्पर्य ये है कि ये जगत्धर्मों के व्यावर्तक होने के कारण सापेक्षलक्षण हैं और ब्रह्म के उपादानत्व से ही सिद्ध होते हैं। ज्ञानलक्षण तो ब्रह्म में अध्यारोपित (शास्त्रकल्पित) कारकत्व का, और आनन्द अविद्याकल्पित आनंदमयाद्यात्माओं का व्यावर्तक होने के कारण निरपेक्षलक्षण है। इन लक्षणों के मनन और निदिध्यासन से जनित ब्रह्म का ज्ञानप्रमाण तो ब्रह्म–अवगति में पर्यवसित होते ही यह फल देता है कि बुद्धि निष्प्रचार रहते समय सन्मात्र आत्मभाव में और सप्रचार रहते समय सर्वात्मभाव में ही रहती है। इस प्रकार अनुमानादि और श्रुतिप्रमाणों में यह महत्वपूर्ण अन्तर है कि अन्य प्रमाणों में आखिर तक प्रमाण–प्रमेय–प्रमाता अर्थात् नानात्व पर आधारित व्यवहार रहता है। श्रुतिप्रमाण तो, नानात्व से आरंभ करने पर भी, नानात्व को सम्पूर्णतया नष्ट करते हुये, एकत्वप्रकाश को बिखेरते हुए, कर्पूर जैसे अपने आपको भी नष्ट करके, स्वयं भी प्रकाश में एक हो जाता है। ब्रह्मसूत्र इसी प्रकार के श्रुतिवाक्यपुष्पों की माला है।

८. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदार्ढ्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्य-अविरोधि प्रमाणं भवत् न निवार्यते। श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्य अभ्युपेतत्वात्। तथा हि ''श्रोतव्यो मन्तव्यः'' (बृ २.४.५) इति श्रुतिः ''पंडितो मेधावी गन्धारानेव, उपसंपद्येत एवमेव इह आचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छां ६.१४.२) इति च पुरुषबुद्धिसाहाय्यम् आत्मनो दर्शयति। न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किंतु श्रुत्यादयः अनुभवादयश्च। यथासंभवमिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। कर्तव्ये हि विषये न अनुभवापेक्षा अस्ति इति श्रुत्यादीनामेव प्रामाण्यं स्यात्। पुरुषाधीनात्मलाभत्वाच्च कर्तव्यस्य कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यं लौकिकं वैदिकं च कर्म यथा अश्वेन गच्छति, पद्भ्याम् अन्यथा वा न वा गच्छति इति। तथा ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'', ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'', ''उदिते जुहोति'', ''अनुदिते जुहोति'' इति विधिप्रतिषेधाश्च अत्र अर्थवन्तः स्युः। विकल्प-उत्सर्ग-अपवादाश्च। न तु वस्तु ''एवं'' ''नैवम्'', ''अस्ति'', ''नास्ति'' इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं

तर्हि। वस्तुतन्त्रमेव तत्। न हि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषः अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम्। वस्तुतन्त्रत्वात्। एवं भूतवस्तुविषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्र एवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्।

८. जगत् के जन्म आदि का निर्देश करनेवाले वेदान्तवाक्यों के रहने पर उनके अर्थ की दृढ़ता के लिए वेदान्तवाक्यों से अनुमत अनुमान भी प्रमाण होता हो तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योंकि श्रुति ने ही सहायता के लिए तर्क को भी अङ्गीकार किया है। जैसे कि–'(ब्रह्म) श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है'–यह श्रुति है और जैसे 'पण्डित और मेधावी गन्धार देश को ही प्राप्त करता है, उसी प्रकार आचार्यवान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है' यह श्रुति भी अपने प्रति पुरुषबुद्धि को सहायक दिखलाती है। धर्मजिज्ञासा की तरह ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं हैं, किन्तु श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ यथासम्भव प्रमाण हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तु (ब्रह्म) विषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरम सीमा अनुभव (ब्रह्मसाक्षात्कार) है। कर्तव्य के विषय में अनुभव की अपेक्षा नहीं होने से और कर्तव्य की उत्पत्ति पुरुषाधीन होने से, उसमें श्रुति आदि ही प्रमाण हैं। इसलिए लौकिक और वैदिक कर्म करना, न करना और दूसरे प्रकार से करना हो सकता है। जैसे घोड़े पर जाता है, पैदल अथवा अन्य प्रकार से जाता है अथवा नहीं जाता, इसी प्रकार 'अतिरात्र में षोडशीको ग्रहण करता है', 'अतिरात्र में षोडशीको नहीं ग्रहण करता', 'सूर्य उदय होने पर होम करता है','सूर्योदय से पूर्व होम करता है'। इस प्रकार विधि और प्रतिषेध तथा विकल्प, उत्सर्ग और अपवाद यहाँ (धर्म में) सावकाश होते हैं। परन्तु सिद्धपदार्थ इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, है अथवा नहीं है, ऐसे विकल्पों का विषय नहीं है। विकल्प तो पुरुषबुद्धि की अपेक्षा करते हैं। सिद्धवस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषबुद्धि की अपेक्षा नहीं करता; किन्तु वह तो सिद्धपदार्थ के ही अधीन है। एक स्थाणु (ठूँठ) में स्थाणु है, या पुरुष है, या अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं होता। उसमें पुरुष है या अन्य कुछ है, यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह तत्त्वज्ञान है, क्योंकि वह वस्तु के अधीन है। उसी प्रकार, सिद्धवस्तु का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है। अतः ब्रह्मज्ञान भी वस्तु के अधीन ही है, क्योंकि उसका विषय सिद्धवस्तु है।

(८.१) इस प्रकार अनुमानादि निंदित होने पर भी ब्रह्मज्ञानप्राप्ति में त्याज्य नहीं हैं। उनका भी स्थान है क्योंकि जिज्ञासा का विषय ब्रह्म भूतवस्तु है, अनुभव में पर्यवसित होने वाला है। अन्य किसी भी ज्ञान की तरह ब्रह्मज्ञान भी वस्तुतन्त्र है–वस्तु जैसी है उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है। वह पुरुषतन्त्र नहीं है,

ज्ञाता उसको अपनी इच्छा के अनुसार नहीं समझ सकता है। इसकी व्याख्या में दिये हुये स्थाणु के दृष्टान्त का पहले विवरण हो चुका है (अध्यासभाष्य १४.४)। इसलिये, ब्रह्मजिज्ञासा में श्रुत्यादि और अनुभवादि यथासंभव प्रमाण हैं। श्रुत्यादि=श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास; अनुभवादि=अन्य प्रमाणों से प्राप्त अनुभव और प्रमेयज्ञानप्राप्ति में अड़चन डालनेवाली शंकाओं का परिहार करने में प्रयुक्त तर्क; यथासंभव=आवश्यकता अनुसार ये सब प्रमाण होते हैं।

(८.२) लेकिन धर्मजिज्ञासा में ऐसा नहीं है। वहाँ विचारणीय कर्म वस्तुतन्त्र नहीं, पुरुषतन्त्र है। इसलिये उसमें विधि-निषेध, विकल्प-उत्सर्ग-अपवादों के लिये स्थान है। विधि 'ऐसा करो' कहने वाले वचन; निषेध: 'ऐसा मत करो' कहने वाले वचन; विकल्प: पुरुषेच्छा के अनुसार 'ऐसा भी कर सकते हैं, वैसा भी कर सकते हैं' इस प्रकार के वचन; उत्सर्ग: 'हिंसा नहीं करना' ऐसे सामान्यवचन; अपवाद: सामान्यवचन का अपवाद-'इस यज्ञ में इस पशु की बलि दो' ऐसे वचन। धर्मजिज्ञासा में श्रुत्यादि ही प्रमाण है क्योंकि उसमें ब्रह्मजिज्ञासा के सदृश अनुभव की अपेक्षा नहीं है।

(८.३) ब्रह्मावगति के लिये अनुमानादि का निषेध करके, 'केवल श्रुत्यादि नहीं प्रमाणान्तरों के लिये भी स्थान है', ऐसा कहने पर प्रश्न उठता है कि प्रमाणान्तर कहाँ स्वीकार्य है, क्यों स्वीकार्य हैं? अथवा कहाँ त्याज्य हैं, और क्यों त्याज्य हैं? जब तक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलेगा, ब्रह्मजिज्ञासा का क्रम नही मालूम होगा। जहाँ तर्क नहीं करना चाहिये वहाँ करना, और जहाँ करना चाहिये वहाँ तर्क नही करना, ये दोष जिज्ञासा में विघ्न डालते हैं। अब इन्हीं से मुक्त होने के लिये विचार करेंगे।

(८.४) प्रमेय द्विविध हैं, इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत। प्रमाण पांच हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति और आगम। इन्द्रियवेद्य प्रमेय पहले चार प्रमाणों के विषय है क्योंकि उन सबका प्रत्यक्ष ही आधार है। तत्काल के लिये अनुमानादि से अप्रत्यक्ष विषय की कल्पना करने पर भी उस कल्पित प्रमेय का अस्तित्व प्रत्यक्ष से ही निश्चित होता है, अन्यथा कल्पना त्याज्य होती है।

परन्तु आगम तो अप्रत्यक्ष विषयों को ही समझाता है। धर्माधर्मों को और प्रकृत्यतीत विषयों को अन्य प्रमाण नहीं समझा सकते, ये तो आगम के ही विषय हैं। तो भी, चूंकि आगम का लक्ष्य जीवों का अभ्युदय ही है, इसलिये उसमें धर्माधर्म का निश्चय प्रत्यक्ष विषयों से सम्बन्ध छोड़कर नहीं होता। अत:, आगम का धर्मजिज्ञासा वाला भाग अप्रत्यक्ष विषयों को समझाते हुए भी अन्य प्रमाणों के विरुद्ध बात नहीं करता। 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियां भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। यदि श्रुति कहे कि 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिये कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि किसी अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं

है–***न हि श्रुतिशतम् अपि शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति ब्रुवत् प्रामाण्यम् उपैति। यदि ब्रूयात् शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति तथापि अर्थान्तरं श्रुतेः विवक्षितं कल्प्यं प्रामाण्य-अन्यथा-अनुपपत्तेः न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा'*** (गी.भा. १८.६६)।

(८.५) ब्रह्मजिज्ञासा में अन्य प्रमाणों को अवकाश कैसे होगा? आगम ही कहता है कि अवकाश है; क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् के द्वारा ही ब्रह्म को समझाना है; दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये, ब्रह्म को समझाने तक आगम, अन्य प्रमाणों का उपयोग करते हुये, उनके अविरुद्ध ही वर्णन करता है। 'एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण समझाता है। तथा लौकिक पद और पदार्थों का आश्रय लिये बिना शास्त्र के द्वारा किसी अज्ञातस्त्वन्तर को नहीं जाना जा सकता–***न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयम् एव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। न च लौकिकपदपदार्थाश्रयव्यतिरेकेण आगमेन शक्यम् अज्ञातं वस्त्वन्तरम् अवगमयितुम्'*** (बृ.भा. २.१.२०)। इसलिये, ब्रह्म को समझने के मार्ग में प्रमाणांतर का उपयोग अवश्य है। ब्रह्म को समझाने के बाद, नानात्व परिधि को पार करके जिज्ञासु को एकत्व पर ले आने के पश्चात्, नानात्वाधारित अन्य प्रमाणों का या अभ्युदयार्थ आगमभाग का सुतरां प्रवेश नहीं है। वहाँ एकमात्र उपनिषद् ही प्रमाण है। अतः जगत् के द्वारा ब्रह्म को समझने के बाद, तद्विपर्यय दिशा में 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म से जगत् कैसे आ सकता है? कूटस्थ ब्रह्म में जन्मादि व्यवहार कैसे हो सकता है?' इत्यादि प्रश्नों का अर्थ नहीं है। अर्थात् ब्रह्म से आंरभ करके जगत् को देखते हुये प्रश्न नहीं करना। लेकिन अप्रबुद्ध लोग करते हैं। इसलिये, करुणामय भाष्यकार ने 'ये प्रश्न अप्रष्टव्य हैं' इस प्रकार चेतावनी देते हुये समाधान देने का प्रयत्न भी किया है। 'ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से उसमें अन्य प्रमाण संभव हो सकते हैं, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूपादि का अभाव होने के कारण ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि के अभाव के कारण अनुमान आदि का विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्म के समान आगममात्र से ही ज्ञातव्य है–***यत् तु उक्तम् परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्'*** (सू. भा. २.१.६)।ऊपर भाष्य में आये वाक्य ***'न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम्'*** और ***'आगममात्र समधिगमस्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्'*** इस वाक्य को ध्यान से देखें। इस प्रकार चेतावनी देने के बाद आगे समाधान भी देते है। 'एकमेव अद्वितीय कूटस्थ ब्रह्म से सृष्टि कैसे होती है?' इस प्रश्न का उत्तर श्रुति-अविरुद्ध तर्क से इस प्रकार होता है: 'यहाँ श्रुति से अनुग्रहीत तर्क का अनुभव के सहायक रूप से ग्रहण किया गया है। स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था इन दोनों में परस्पर व्यभिचार होने के कारण आत्मा (प्राज्ञ) इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्ति में प्रपंच का परित्याग होने से आत्मा सत्स्वरूप आत्मा के साथ एक होकर निष्प्रपंच ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। प्रपंच

ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है; अतः कार्य कारण से अभिन्न है, इस न्याय से ब्रह्म से प्रपंच अभिन्न है, इस प्रकार का तर्क अंगीकृत होता है– *श्रुत्यनुगृहीत एव हि अत्र तर्कः अनुभवाङ्गत्वेन आश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोः उभयोः इतरेतर व्यभिचारात् आत्मनः अनन्वागतत्वम्, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेः निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इति एवं जातीयकः'* (सू.भा. २.१.६)।

९. ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मणः प्रमाणान्तरविषयत्वमेव इति वेदान्तवाक्यविचारणा अनर्थिकैव प्राप्ता? न। इंद्रिय-अविषयत्वेन संबंधाग्रहणात्। स्वभावतो विषयविषयाणि इंद्रियाणि न ब्रह्मविषयाणि। सति हि इंद्रियविषयत्वे ब्रह्मणः इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत। कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा संबद्धं किमन्येन केनचिद्वा संबद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम्। तस्मात् जन्मादि सूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्, किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम्।

९. (कोई शङ्का करे कि) ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से अन्य प्रमाण का विषय है ही, इसलिये वेदान्तवाक्यों के विचार की अनर्थकता ही प्राप्त होती है। ऐसा नहीं है। क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए (उसका जगत्‌रूप कार्य के साथ) सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयोन्मुख हैं, ब्रह्म को विषय नहीं करतीं। ब्रह्म इन्द्रियों का विषय हो तो इस (जगद्रूप) कार्य का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध है ऐसा जाना जा सके। परन्तु कार्यमात्र (अर्थात् यह जगत् ही इन्द्रियों से) गृहीत होता है। उसका सम्बन्ध ब्रह्म के साथ है अथवा किसी अन्य के साथ है, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। इसलिए, 'जन्मादि सूत्र' अनुमान के उपन्यास के लिए नहीं है, किन्तु वेदान्तवाक्यों के प्रदर्शन के लिए है।

(९.१) कार्य–कारणअनन्यत्वन्याय के अनुसार कार्यजगत् का कारणब्रह्म से तादात्म्य सम्बन्ध है (पूर्वार्ध); लेकिन ब्रह्म को जगत्सम्बन्ध नहीं है (उत्तरार्ध)। इस न्याय के पूर्वार्ध की विमर्शा मृदादि दृष्टान्तों से करके श्रुति ब्रह्म को समझाती है। इस समय श्रुति अन्य प्रमाणों के विरुद्ध बात नहीं करती। परन्तु उत्तरार्ध के संबन्ध में 'सन्मात्र ब्रह्म से ही जगदुत्पत्ति' इस अध्यारोप वचन के बिना श्रुति कुछ नहीं कहती; क्योंकि वह कुछ कह भी नहीं सकती। यह ब्रह्मज्ञान के बाद ही स्पष्ट होने का विषय है। तो भी, अन्य प्रमाणों से प्रभावित होकर सामान्य लोग पूछते हैं 'सन्मात्र ब्रह्म से जगत् कैसे आ सकता है?' अगर उसने ब्रह्म को समझ लिया है तो यह शंका नहीं उठनी चाहिये। इसके परिहार के लिये भाष्य में रज्जवादि दृष्टान्त दिया जाता है। 'सर्प सा दिखने पर भी वह रज्जु ही है, जगत् सा दिखने पर भी वह ब्रह्म ही है। एक ब्रह्म ही है, उससे अलग जगत् नाम की कोई वस्तु है ही नहीं इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में इस प्रश्न का स्थान ही नहीं है।' यह श्रुत्यनुगृहीत तर्क है।

Maha Parivrajaka

इस प्रकार, जगत् द्वारा ब्रह्म को समझाते समय मृदादिदृष्टान्त, समझाने के बाद गृहीतब्रह्म के विषय में पैदा होने वाले संदेह के निवारण के लिये रज्जवादि दृष्टान्त हैं। अध्यासभाष्य के प्रथम पद में अस्मत् शब्द का अर्थ आत्मा करने के दोष से उत्पन्न जगत्मिथ्यात्व से जो लोग चिपके हुये हैं, वे ये समझे बिना कि मृद्–घट और रज्जु–सर्प, दोनों विलक्षण दृष्टान्त हैं जिनके उद्देश्य भिन्न–भिन्न हैं, इनकी भिन्नता समझने के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं और फिर इन दृष्यान्तों का अनुवाद गलत सन्दर्भों में करते हैं। कार्य–कारण संबन्ध कहने वाले श्रुत्युक्त मृदादि दृष्टान्तों को छोड़कर, कार्यकारण न कहने वाले रज्जवादि दृष्टान्तों को पकड़कर, रज्जु–सर्प में कारण–कार्य सम्बन्ध की कल्पना करके, उस कल्पित सम्बन्ध का 'विवर्तोपादान' ऐसा नामकरण करके वे लोग जगत्–ब्रह्म में कार्य–कारण भाव की व्याख्या करते हैं। ब्रह्म अविकारी है, परन्तु फिर भी जगत् का कारण है, इसका समन्वय करने के लिये उपर्युक्त कल्पना की गयी है तो वह अनावश्यक है क्योंकि मृद्दृष्टान्त से ही यह सिद्ध हो जाता है क्योंकि श्रुतिवचन में ***मृत्तिकेत्येव सत्यं*** है। परन्तु उनका ध्येय तो यह सिद्ध करना है कि रज्जु में दिखायी देने वाले सर्प के समान जगत् दिखायी देने पर भी असत् है। यह सर्वथा अस्वीकार्य है। जिसने घटभाष्य (बृ.भा.१.२.१) का अध्ययन किया है, वह कभी जगत् का असत्त्व स्वीकार नहीं कर सकता। असद्वादियों के लिये भाष्य का यह परिच्छेद भी अनुकूल नहीं हो सकता, क्योंकि रज्जु–सर्प दृष्टान्त में रज्जु और सर्प दोनों ही नेत्रेन्द्रिय के विषय हैं, इसलिये सर्प देखने पर भी रज्जु के परीक्षण से यह निश्चय कर सकते हैं कि 'यह सर्प नहीं, रज्जु है'। परन्तु दार्ष्टान्त में तो केवल कार्यजगत् इन्द्रियवेद्य है, कारणब्रह्म नहीं। इसलिये, 'मिथ्या जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है' ऐसा कहकर ब्रह्म को नहीं समझाया जा सकता।

१०. किं पुनस्तद्वेदान्तवाक्यं यत् सूत्रेण इह लिलक्षयिषितम्? ''भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति''इत्युपक्रम्य आह ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति'' (तै. ३.१) तस्य च निर्णयवाक्यम् ''आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति''(तै. ३.६) इति। अन्यान्यपि एवं जातीयकानि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव-सर्वज्ञस्वरूप-कारणविषयाणि उदाहर्तव्यानि।

१०. कौन सा वेदान्तवाक्य है जिसका इस सूत्र में विचार करना अभीष्ट है? 'भृगुर्वै०' भृगु वारुणि पिता वरुण के पास गया और कहा–'भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये'–ऐसा आरम्भ करके कहते है–'यतो वा०' जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसमें जीते हैं, जिसके प्रति जाकर लीन होते हैं, उसको जानने की इच्छा कर, वह ब्रह्म है। उसका निर्णयवाक्य यह है–'आनन्दाद्ध्येव'–आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, जन्म लेकर आनन्द (ब्रह्म) से जीवित

होते हैं और आनन्द में लीन होते हैं। नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्त सर्वज्ञस्वरूप जो कारण (ब्रह्म) है, उसके विषय में इस प्रकार के स्वरूपलक्षणों का निर्देश करनेवाले दूसरे वाक्य भी उद्धृत करने चाहिये।। २।।

(१०.१) कारणब्रह्म को समझाने के लिये प्रवृत्त इस जन्मादि सूत्र में जिन वेदान्तवाक्यों का विचार हुआ है उनका यहाँ उल्लेख कर रहे हैं। पहले ही भाष्यकार ने ***'अस्य जगतः नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य'***–नामरूप से व्यक्त अनेक कर्ता–भोक्ता से संयुक्त इस जगत् का, कहकर यह बता दिया है कि जगत् में क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ दोनों आते हैं। यहाँ उल्लिखित वाक्य क्षेत्रज्ञ द्वारा ब्रह्म को समझाने के लिये है। जिस प्रकार से जगत् से ब्रह्म के सत्य, ज्ञान, अनन्त लक्षणों को अलग किया गया, उसी प्रकार यहाँ क्षेत्रज्ञ के विषयानन्दों से आनन्द लक्षण को अलग करना चाहिए। वास्तव में उस आनन्द का विषयों से संबंध नहीं है। निरुपाधिक क्षेत्रज्ञ का सुषुप्त्यानन्द ही मिथ्याज्ञान के कारण जाग्रत में विषयानन्द सा भासता है। ***'यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदनान्तरं'***–स्त्री से आलिंगित (पुरुष) अंदर या बाहर कुछ नहीं जानकर (बृ. ४.२.३२) कहकर श्रुति इसको समझाती है। सुषुप्त्यानन्द ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण आनन्द है–***एषोऽस्य परम आनन्दः*** (बृ. ४.३.३२) इसलिये, सब सुषुप्त्यनुभव को 'न किंचिदवेदिषं' कहकर बुद्धिदृष्टि से और 'सुखमहमस्वाप्सम्' कहकर विषयसुखदृष्टि से समझते हैं। उसी प्रकार, क्षेत्र द्वारा ब्रह्म को समझाने के लिये वाक्य है:– ***'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म.....तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'***–ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्त है। उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ (तै.२.१)। ***'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेव अद्वितीयम्.....तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत'***–हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षण किया कि 'मैं बहुत हो जाऊं, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊं' (छा.६.२.१–३)। ***'दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः........अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः..........एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च'***–ब्रह्म दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध है। इससे ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (मु.२.१.२–३)। ***'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्........स इमाल्लोकानसृजत'***–पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उस (आत्मा) ने ही इन लोकों की रचना की (ऐ १.१.१–२) इत्यादि।

क्षेत्र से आरंभ करके ब्रह्मस्वरूप का निश्चय होने के बाद, 'वही क्षेत्रज्ञ का भी स्वरूप है' इसको समझाने वाले अन्तिम श्रुतिसन्देश का स्वरूपानन्द में पर्यवसान होता है। इसलिये, आनन्दब्रह्मवाक्यों का मुख्यरूप से उल्लेख करके अन्यवाक्यों को 'अन्यान्यपि' से संगृहीत करके अधिकरण समाप्त किया गया है।

❀❀❀

Maha Parivrajaka

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

१. जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्म इति उपक्षिप्तम्। तदेव द्रढयन् आह।

१. ब्रह्म में जगत्कारणता दिखलाने से उसकी सर्वज्ञता सूचित हुयी; अब उसी को दृढ़ करते हुये कहते हैं:–

शास्त्रयोनित्वात् (सू. १.१.३)

शास्त्रस्य–वेद का; योनित्वात्–कारण होने से (ब्रह्म सर्वज्ञ है)।

भाष्यकार ने इस सूत्र के दो व्याख्यान किये हैं। पहला:–

२. महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञात् अन्यतः संभवोऽस्ति। यद्यद् विस्तरार्थं शास्त्रं यस्मात् पुरुषविशेषात् संभवति, यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेः ज्ञेयैकदेशार्थमपि, स ततोऽपि अधिकतरविज्ञानः इति प्रसिद्धं लोके, किमु वक्तव्यम् अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादि प्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिः-श्वासवद् यस्मात् महतो भूताद्योनेः संभवः ''अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद् ऋग्वेदः''(बृ. ४.५.११) इत्यादि श्रुतेः, तस्य महतो भूतस्य निरतिशयं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च इति।

२. अनेक विद्यास्थानों से उपबृंहित, प्रदीप के समान सब अर्थों के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है। ऋग्वेद आदि सर्वज्ञगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़ कर दूसरे से संभव नहीं है। जो जो विस्तारार्थ शास्त्र जिस पुरुषविशेष से रचे जाते हैं, उनका ज्ञेय का एकदेश अर्थ होने पर भी, ऐसे भी व्याकरण, पाणिनि आदि से, वह (पुरुषविशेष) उससे (शास्त्र से) अधिक ज्ञानवान् है, यह लोक में प्रसिद्ध है, तो अनेक शाखाभेद से भिन्न, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रम आदि विभाग का हेतु, सर्वज्ञानका आकर, ऋग्वेद आदि संज्ञक का अनायास ही लीलान्याय से पुरुष निःश्वास के समान जिस

MahaParivrajaka

महान् सत्ययोनि से सम्भव है '*अस्य महतो०*' (इस महान् भूत का जो नि:श्वसित है वह ऋग्वेद है) इत्यादि श्रुति से जाना जाता है। उस महाभूत (ब्रह्म) के निरतिशय सर्वज्ञत्व और सवशक्तिमत्त्व के विषय में तो कहना ही क्या है।

केवल जगत् के जन्म, स्थिति, भंग का ही नहीं, बल्कि ऋग्वेदादि महाशास्त्रों का भी कारण होने से ब्रह्म का सर्वज्ञत्व दृढ़ होता है, क्योंकि जीवों के समुत्कर्ष के लिये आवश्यक वर्णाश्रम धर्मों को, उनके नि:श्रेयस के लिये आवश्यक साधनों को, और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के स्वरूपों को समझाने वाला शास्त्र सर्वज्ञ है। सर्वकाल में सब प्रकार के मनुष्यों के लिये श्रेय और अभ्युदय के साधनों को बताना, किसके लिये कब क्या साधना है यह निश्चय करना सरल नहीं है। इस निश्चय के लिये वेद का उपबृंहण (विस्तार) अनेक विद्यास्थानों के द्वारा किया गया है। पुराण, मीमांसा, धर्मशास्त्र, न्याय और षड्वेदांग-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये सब विद्यास्थान हैं। इस प्रकार के सर्वज्ञरूप वेदों की उत्पत्ति सर्वज्ञ से ही हो सकती है, अन्य से नहीं। अर्थात् वेद अपौरुषेय हैं।

प्रश्न: वेद नित्य हैं। सूत्रकार आगे'***अत एव च नित्यत्वम्***' (सू.१.३.२९) से इसी को कहते है। जबकि ऐसा है तो 'वेदों की उत्पत्ति' का क्या अर्थ है?

उत्तर: ऐसा नहीं है। वेदों की अभिव्यक्ति को ही उपचार के लिये उत्पत्ति कहा गया है। इस विषय में प्रपंचोत्पत्ति और वेदोत्पत्ति भिन्न नहीं है। कैसे? ऐसे:-'***सदेव सोम्येदमग्रासीत्*** -हे सोम्य! यह सब पहले सत् ही था' (छा.६.२.१)। '***अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्याानि भारत, अव्यक्तनिधानि एव***'–हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त थे, बीच में व्यक्त होते हैं और मरण के बाद फिर अव्यक्त हो जाते हैं (गीता. २.२८)। '***प्रलीयमानमपि च इदं जगत् शक्त्यवशेषम् एव प्रलीयते। शक्तिमूलम् एव च प्रभव***'–जगत् का प्रलय होने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। इसी शक्ति से वह फिर प्रकट होता है (सू.भा. १.३.३०), इत्यादि वाक्य क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगत् को इसी अर्थ में नित्य कहते हैं। वर्णात्मक वेद भी इसी अर्थ में नित्य हैं।

इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रलय में भी वेद वर्णात्मक रूप में ही रहते हैं। यदि ऐसा होगा तो प्रलय ही सिद्ध नहीं होगा; और 'एकमेवाद्वितीय' श्रुति का उल्लंघन भी होगा। जगत् की तरह वेद भी प्रलयकाल में सद्रूप में ही रहते हैं और अगली सृष्टि में अपने सद्रूप को छोड़े बिना ही वर्णात्मक रूप से अभिव्यक्त होते हैं। ईश्वर के अनुग्रह से मंत्रद्रष्टाओं की स्मृति में मनोवृत्ति उपाधि द्वारा प्रवेश करके नादस्वरपदवाक्यरूप में प्रकट होते हैं (तै.भा.२.३)। असल में तो जगत् वेदशब्दपूर्वक ही अभिव्यक्त होता है। '***एते इति वै प्रजापति: देवानसृजत, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्दव इति पितृन्, तिर: पवित्रमिति ग्रहान्, आशव इति स्तोत्रं, विश्वानि इति शस्त्रं, अभिसौभगेति अन्या: प्रजा:***'–'एते' कहकर प्रजापति ने देवताओं

Maha Parivrajaka

की सृष्टि की, '*असृग्रम्*' से मनुष्यों की, '*इंदव*' से पितरों की, '*तिरः पवित्रं*' से ग्रहों की, '*आशव*' से स्तोत्र को, '*विश्वानि*' से शस्त्र की और अभिसौभग से अन्य प्रजाओं की (ताण्ड्य ब्राह्मण ६.९.१५)। जगत् की अभिव्यक्ति प्रजापति द्वारा होने मात्र से 'जगत् पौरुषेय है' ऐसा कोई नहीं कहता। उसी प्रकार मन्त्रद्रष्टाओं द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी वेद पौरुषेय नहीं हैं। 'वेद की यह सृष्टि सम्प्रदायप्रवर्तन रूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वेद की और किसी प्रकार से उत्पत्ति नहीं हो सकती–***उत्सर्गः अपि अयं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मकः द्रष्टव्यः अनादि निधनायाः अन्यादृशस्य उत्सर्गस्य असम्भवात्***' (सू.भा. १.३. २८)। 'जिन्होंने सबसे पहले ब्रह्माजी की सृष्टि की, जिसने ब्रह्मा जी को वेद प्रदान किये, आत्मज्ञानविषयक बुद्धि को प्रकट करनेवाले उस देव की मैं शरण लेता हूँ' (श्वे ६.१८), कहकर वेद समझाता है कि अपनी अभिव्यक्ति के लिये परब्रह्म ब्रह्माजी का उपयोग करता है। जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके ब्रह्म जैसे जगत् की सृष्टि करता है, उसी प्रकार वेद के विषय में भी समझना चाहिये। इस अभिव्याकरण में ब्रह्म को कुछ भी श्रम नहीं होता। पूरे ब्रह्माण्ड को कल्पादि से कल्पान्त तक घुमाते हुये जब श्रम नहीं होता तो क्या ब्रह्माजी द्वारा वेदाभिव्यक्ति करने में होगा? ***वह बिना आयास ही वेद की सृष्टि करता है।*** इसलिये, ब्रह्म सर्वज्ञ भी है, सर्वशक्त भी है।

कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा में सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तित्व अनादि अविद्या के कारण दिख पड़ते है; और कुछ कहते हैं कि ये जीव द्वारा कल्पित किये हुये आविद्यक व्यवहार हैं। उनका अभिमत है कि 'निरुपाधिक ब्रह्म में ये नहीं रह सकते', और इसलिये वे ऐसी कल्पनाएं करते हैं। यह ठीक नहीं है ऐसा कह चुके हैं। भाष्य निरुपाधिक ब्रह्म का ही सर्वज्ञत्व कहता है (सू.भा.१.१.५)।

आगे, '***जीवस्य...........ईश्वर समानधर्मत्वं..........विद्यमानम् अपि, तत् तिरोहितम् अविद्यादि व्यवधानात्***'–जीव में ईश्वर के समान धर्म रहने पर भी वह अविद्यादि व्यवधान के कारण छुपा रहता है (सू.भा. ३.२.५)। '***ईश्वरस्य नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्***'–ईश्वर सर्वकाल में अविद्या से मुक्त है (सू.भा. ३.२.९), इत्यादि से यह कथन कि सर्वज्ञत्वादि अविद्या के कारण ईश्वर में दिखायी पड़ते हैं या जीव से कल्पित आविद्यक व्यवहार है–स्पष्टतया भाष्य के विरुद्ध है। 'स्वरूप का सर्वज्ञत्व ही उपाधि द्वारा व्यवहार में दिखायी देता है, निरुपाधिक स्वरूप में व्यवहार नहीं है' इस प्रकार विवेक न करना ही इन कल्पनाओं का कारण है। सर्वज्ञत्वादि आविद्यक व्यवहार नहीं है, बल्कि सर्वज्ञत्वादि व्यवहार आविद्यक है, क्योंकि स्वरूप में व्यवहार नहीं है। असल में तो उपाधिदृष्टि से ही देखा हुआ व्यवहार आविद्यक है, सदात्मना तो वह भी सत्य ही है (छा. भा. ६.३.२, ७.२६.१)।

प्रश्नः वेद और पौरुषेय ग्रन्थों में क्या अन्तर है?

उत्तरः ग्रन्थकर्ता के संस्कार और सामर्थ्य के अनुसार लिखे गये पौरुषेय ग्रन्थ ईश्वरसृष्टि के कुछ अंश को ही लेकर प्रमाणांतर से उनका विश्लेषण करते हैं। वे समीप रहने वाले कुछ विषयों को असंपूर्ण

रूप से प्रकाशित करने वाले छोट-छोटे दीपक हैं। उनमें ग्रन्थकर्ता के भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोष भी हो सकते हैं। और दोष न रहने पर भी उनमें सुतरां सम्पूर्णता नहीं रहती। परन्तु वेद ऐसे नहीं है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप सम्पूर्ण जगत्, और कारणब्रह्म-ये वेद के विषय हैं, वेद का स्वरूप भी ब्रह्म ही है-***'इमे वेदाः यदयमात्मा'***-ये वेद यह आत्मा ही हैं (बृ.२.४.६)। वेद अपने स्वरूप को बिना छोड़े ही कार्य-कारण का विश्लेषण करते हैं। इसलिये उनमें कुछ भी दोष या असंपूर्णता नही है। वेद सब विषयों को सम्पूर्णतया प्रकाशित करने वाला प्रदीप है। यही है वेद का सर्वज्ञत्व। इसलिये, उसकी योनि ब्रह्म भी सर्वज्ञ ही है।

प्रश्नः पिछले जन्मादि सूत्र में ही ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध हो चुका है, फिर यहाँ पुनः उसका दृढ़ीकरण करने का क्या औचित्य है?

उत्तरः मीमांसक लोग वेद नित्यत्व का अपने ही ढंग से व्याख्यान करते हैं, और फिर जगत् का भी उसी प्रकार नित्यत्व कहकर शास्त्रयोनि सर्वज्ञेश्वर का निराकरण करते हैं। उनके कथन का श्रुति से विरोध दिखाने के लिये भाष्यकार ने यह प्रथम व्याख्यान किया है। अब आगे इसी सूत्र का दूसरा व्याख्यान करते हैं:-

शास्त्रयोनित्वात् (सू. १.१.३)

(अथवा) शास्त्र-वेद (ही), योनित्वात्-प्रमाण होने से (ब्रह्म का ज्ञान वेदमूल ही है)।

३. अथवा यथोक्तं ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणः यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणात् जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्म अधिगम्यते इत्यभिप्रायः। शास्त्रम् उदाहृतं पूर्वसूत्रे ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै. ३.१) इत्यादि। किमर्थं तर्हि इदं सूत्रं, यावता पूर्वसूत्रे एव एवं जातीयकं शास्त्रम् उदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितम्? उच्यते। तत्र पूर्वसूत्राक्षरेण स्पष्टं शास्त्रस्य अनुपादानात् जन्मादि केवलं अनुमानम् उपन्यस्तम् इत्याशङ्क्येत ताम् आशङ्कां निवर्तयितुम् इदं सूत्रं प्रववृते शास्त्रयोनित्वाद् इति।।

३. पूर्वोक्त ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म के यथार्थस्वरूप के ज्ञान में योनि-कारण अर्थात् प्रमाण है। शास्त्रप्रमाण से ही जगत् का जन्मादि कारण ब्रह्म समझा जाता है यह अभिप्राय है। पूर्व सूत्र में 'यतो वा' इत्यादि शास्त्रों का उदाहरण दिया है। जब पूर्व सूत्र में ही ऐसे शास्त्र का उदाहरण देते हुए सूत्रकार ने ब्रह्म शास्त्रयोनि है ऐसा कह दिया है, तब फिर इस सूत्र का क्या प्रयोजन है? इस विषय में कहा जाता है-पूर्वसूत्र के अक्षरों से शास्त्र का स्पष्ट उपादान नहीं किया गया है, इसलिये, जगत्के जन्म आदि का केवल अनुमान रूप से उपन्यास किया है ऐसी कोई शंका करे तो उस आशंकाको दूर करने के लिए 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है।। ३।।

Maha Parivrajaka

प्रश्न: यह क्या है? पहले ब्रह्म का जगत्कारणत्व के निश्चय के लिये ***'श्रुत्यादय: अनुभवादय: च इह प्रमाणम्'***–श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ प्रमाण हैं (सू.भा.१.१.२) कहकर अब ***'शास्त्रात् एव प्रमाणात्'***–शास्त्र प्रमाण से ही, जगत् जन्मादि के कारण ब्रह्म को समझना है ऐसा कह रहे हैं। इसका क्या अर्थ है?

उत्तर: यह पहले ही कह चुके हैं कि ***'सदेवसोम्येदमग्रासीत्'*** इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मकारणत्व को समझते समय हमें तर्क, अनुभवादि का अवलंबन लेकर ही समझना है। यह इसलिये है क्योंकि इस श्रुति में 'इदम्–यह जगत्' प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय है। अत: श्रुति इन प्रमाणों को छोड़कर चर्चा नहीं कर सकती। लेकिन पुनश्च उद्धृत किये ***'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'***–जिससे ये प्राणी पैदा होते हैं इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है। 'जगन्मूल आनन्दस्वरूप है' यह कथन तर्क या अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है, केवल श्रुतिमात्र का ही विषय है। इसलिये, आनन्द ही जगत्कारण है यह समझने के लिये शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण हो सकता है। 'क्या यह अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता?' ऐसा सन्देह करें तो उसके परिहार के लिये ही यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है। यही कारण है कि इस श्रुतिवाक्य का पहले उल्लेख होने पर भी उसे पुन: उद्धरित किया गया है।

Maha Parivrajaka

समन्वयाधिकरण

इस प्रकार शास्त्रप्रमाण से ब्रह्म सिद्ध होता है। इस ब्रह्म का कर्म से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसलिये केवल कर्म के ही विषय में बात करने वाले मीमांसक इस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप उठाते हैं। अगला सूत्र इन आक्षेपों के समाधान के लिये ही प्रवृत्त है। इस सूत्र के विस्तृत भाष्य को समझने से पहले पूर्वमीमांसा के कुछ विषयों का ज्ञान होना आवश्यक है, इनका संग्रह निम्नलिखित परिच्छेद में किया गया है:-

१. पूर्वमीमांसा का पक्ष यह है कि क्रिया से असंबंधित वेदवाक्य निरर्थक हैं लेकिन मीमांसाशास्त्र ही उत्तर भी देता है कि चूंकि वेदवाक्य निरर्थक नहीं होते इसलिये यथासंभव क्रिया से समन्वय करके ही उन्हें समझना चाहिये। उदाहरण के लिये ***'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'***–भूतिकाम वायुदेवता को सफेद भेड़ की बलि दे (तै. संहिता २.१.१), यह एक विधिवाक्य है। आगे इन्हीं वायुदेवता के विषय में एक और वाक्य है: ***'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'***–वायु ही क्षिप्रतम देवता है। अपने भाग से वायु के पास ही पहुंचता है। वही इस को भूति दिलाता है (तै. संहिता २.१.१)। 'इस वाक्य का पिछले विधिवाक्य से कोई सम्बन्ध नहीं है' ऐसा रखकर इसकी स्वतन्त्र रूप से परिगणना की जाये तो वह निरर्थक होगी, इसलिये इसका प्रामाण्य नहीं रहेगा। प्रामाण्य कैसा सिद्ध होगा? पूछा तो, 'विधि के साथ एकवाक्यता होने के कारण विधि की स्तुति के द्वारा इसका प्रामाण्य सिद्ध होगा।' इस प्रकार के विधिस्तुति वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। इसी प्रकार निषेध के लिये प्रयुक्त निंदावाक्य भी अर्थवाद ही हैं। उदाहरण: ***'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'***–वह रोया। रोने के कारण उसका नाम रुद्र है (तै. स. १.५.१)। यहाँ यह प्रसंग है कि किसी कारणवश अग्नि देवता रोये। उनके नेत्रों से जो आंसू गिरे वे रजत बन गये। स्वतंत्र रूप से देखने पर यह अख्यायिका निरर्थक है। इसका प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता। इसलिये बर्हियाग में रजत का दान नहीं दिया जाता कहकर इसकी प्रमाणिकता सिद्ध की जाती है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसकों के अनुसार क्रियासम्बन्धरहित अर्थवाद निरर्थक है और ऐसे वाक्य विधि-निषेध की स्तुति-निन्दा के लिये ही कहे गये हैं, और इस प्रकार परिगणना करने पर ही इन वाक्यों का प्रामाण्यसार्थक्य है (जै. सू. १.२.७)।

अर्थवाद तीन प्रकार के हैं–अनुवाद, गुणवाद और भूतार्थवाद। ***'अग्निः हिमस्य भेषजम्'***–अग्नि शीत की औषधी है, यह और एक प्रमाण (प्रत्यक्ष) के लिये विषय है। इस प्रकार का अर्थवाद अनुवाद है।

'यूप' का अर्थ है आठ मुखों में कटी हुयी लकड़ी। ***'आदित्यो यूप:'*** का अर्थ है यूप सूर्य है। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। इसलिये इसको, 'सूर्य जैसे चमकने वाला' इस अर्थ के द्वारा प्रवृत्त करने वाला अर्थवाद गुणवाद है।

जो प्रमाणांतर का विषय नहीं है परन्तु उसके विरुद्ध भी नहीं है, ऐसा अर्थवाद भूतार्थवाद है। उदाहरण के लिये, देवताओं का आकार बताने वाले वाक्य और किसी प्रमाण का विषय भी नही हैं, विरुद्ध भी नहीं हैं। ये भूतार्थवाद है। **इनके बारे में अन्य प्रमाणों के आधार पर वाद नहीं करके श्रुतिशरण उनको जैसा है वैसे ही स्वीकार करते हैं (सू .भा. १.३.३३)**

२.क्रिया या देवता को कहने वाले जो मन्त्र हैं, उनका अर्थ विवक्षित है या नहीं? इस विषय में चर्चा इस प्रकार है: दर्शपूर्णमासयाग के लिये वृक्ष की शाखा को काटते समय 'इषेत्वा-बल के लिये तुम्हें' इस मन्त्र को कहना है। संदर्भानुसार 'छिनद्मि-काटता हूँ', इस पद का अध्याहार करके मंत्र का अर्थ 'इषेत्वा छिनद्मि' करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि 'क्या वृक्ष को काटने की क्रियामात्र पर्याप्त नहीं है? या मन्त्र का अर्थ भी विवक्षित है? अर्थात् क्या मन्त्र का उच्चारण करके ही क्रिया करनी है?' मीमांसाशास्त्र उत्तर देता है कि 'क्रिया करते समय इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुये उच्चारण करो, क्योंकि इसका अदृष्ट फल है'। इसी प्रकार 'अग्निर्मूर्धा' इत्यादि मन्त्रों में क्रिया के साधनभूत देवताओं का अर्थ ही विवक्षित मंत्रार्थ है। जैसे अर्थवादवाक्यों को विधिनिषेधों की स्तुति-निन्दा द्वारा प्रामाण्य प्राप्त होता है, वैसे ही क्रिया या क्रियासाधनों का वर्णन करने में ही मन्त्रों का भी प्रामाण्य है, अन्यथा नहीं। यह है मीमांसाशास्त्र का सिद्धान्त।

३. विधिनिषेधों के दो रूप:-अज्ञात विषयों को बतलाने वाला अज्ञातज्ञापक पहला है। यह कर्म के क्रमसाधनों को बताता है; कर्म में अप्रवृत्त को उसमें प्रवृत्त करने वाला अप्रवृत्तप्रवर्तक दूसरा है। यह कर्मफलों का विवरण कर अभिरुचि पैदा करके कर्मों में प्रवृत्त करता है। अप्रवृत्तप्रवर्तक को न कहने वाले, केवल अज्ञातज्ञापक वाक्य निरर्थक हैं। इसलिये उनका प्रामाण्य नहीं है क्योंकि दोनों को कहने से ही सार्थकता होती है और तभी मनुष्य को उससे प्रयोजन भी होगा।

अब चौथे सूत्र के विश्लेषण से पहले भाष्यकार का उपोद्घात है:

१. कथं पुनर्ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुच्यते यावता ''आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्'' (जै. सू. १.२.१) इति क्रियापरत्वं शास्त्रस्य प्रदर्शितम्? अतः वेदान्तानाम् आनर्थक्यम्। अक्रियार्थत्वात्। कर्तृदेवतादि प्रकाशनार्थत्वेन वा क्रिया-विधिशेषत्वम्। उपासनादि क्रियान्तर विधानार्थं वा। न हि परिनिष्ठितवस्तुप्रतिपादनं संभवति। प्रत्यक्षादि विषयत्वात् परिनिष्ठितवस्तुनः। तत्प्रतिपादने च हेयोपादेयरहिते

पुरुषार्थाभावात्। अत एव ''सोऽरोदीत्'' (तै. सं. ५.१.१) इत्येवमादीनाम् आनर्थक्यं मा भूत् इति ''विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः'' (जै. सू. १.२.७) इति स्तावकत्वेन अर्थवत्त्वमुक्तम्। मन्त्राणां च ''इषे त्वा'' (तै. सं. १.१.१) इत्यादीनां क्रियातत्साधनाभिधायित्वेन कर्मसमवायित्वम् उक्तम्। न क्वचिदपि वेदवाक्यानां विधि-संस्पर्शमन्तरेण अर्थवत्ता दृष्टा उपपन्ना वा। न च परिनिष्ठिते वस्तुस्वरूपे विधिः संभ-वति। क्रियाविषयत्वात् विधेः। तस्मात् कर्मापेक्षित कर्तृस्वरूप देवतादि प्रकाशनेन क्रियाविधिशेषत्वं वेदान्तानाम्। अथ प्रकरणान्तरभयात् नैतत् अभ्युपगम्यते, तथापि, स्ववाक्यगत-उपासनादि-कर्मपरत्वम्। तस्मात् न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वम् इति प्राप्ते उच्यते।

१. शास्त्र ब्रह्म में प्रमाण है, यह कैसे कहते हो? क्योंकि 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है इसलिए अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं) यह दिखाता है कि शास्त्र क्रियापरक हैं। इसलिए वेदान्त अनर्थक है, क्योंकि क्रियार्थक नहीं हैं। (कर्मांग) कर्ता, देवता आदि का प्रकाश करके वेदान्त क्रियाविधि के अङ्ग हो सकते हैं। अथवा उपासना आदि अन्य क्रियाओं की विधि के लिए हो सकते हैं। सिद्धवस्तु का प्रतिपादन करना तो (वेदान्तों का प्रयोजन) नही हो सकता, क्योंकि सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय है ही और उसका प्रतिपादन न हेय है और न उपादेय, अतः उसमें पुरुषार्थ का अभाव है। इसी कारण से 'सोऽरोदीत्' (वह रोया) इत्यादि वाक्य अनर्थक न हों, इसलिए 'विधिना०' (विधिवाक्यों के साथ एकवाक्य होने के कारण, विधि की स्तुति के द्वारा सार्थक हैं)। इस प्रकार स्तुत्यर्थक होने से वे ('सोऽरोदीत्' इत्यादि वाक्य) सार्थक कहे गये हैं। 'इषेत्वा' (बल के लिए तुझे काटता हूँ) इत्यादि मन्त्र क्रिया और उसके साधनों का अभिधान करते हैं, इसलिए (मन्त्र) कर्मसम्बन्धी कहे गये हैं। किसी भी स्थल पर विधिवाक्यों के सम्बन्ध के बिना वेदवाक्यों की अर्थवत्ता न देखने में आई है और न उपपन्न भी है। सिद्धवस्तु के स्वरूप में विधि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि विधि क्रियाविषयक है। ये कर्म के लिए अपेक्षित कर्ता के स्वरूप, देवता आदि का प्रकाशन करने से वेदान्त क्रियाविधि के अङ्ग होते हैं। यदि अन्य प्रकरण के भय से यह स्वीकार न किया जाय, तो भी अपने (वेदान्त के) वाक्यों में उपलब्ध उपासना आदि के कर्मपरक होने दो। इसलिए ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं है, ऐसा (पूर्वपक्ष) प्राप्त होने पर कहते हैं–

(१.१) यहाँ पहले वाक्य का तात्पर्य ऊपर (१) में दिया गया है। 'क्रिया से सम्बन्ध न रखने वाले वाक्य निरर्थक हैं', यह पूर्वपक्ष रखकर शास्त्र का क्रिया में ही तात्पर्य है यह पूर्वमीमांसा में सिद्ध किया

Maha Parivrajaka

जाता है। वेदान्त में कथित ब्रह्म तो क्रियासंबन्धरहित है, इसलिये मीमांसक आक्षेप करता है: 'वेदान्तवाक्य निरर्थक हैं। कम से कम यदि क्रिया के लिये कर्तृदेवतादि साधनों को कहा होता तो भी सार्थक होते, परन्तु वह भी नहीं है। उपासनारूप क्रिया को भी नहीं बताते। केवल परिनिष्ठित वस्तु को-रहने वाली वस्तु का ही वर्णन करने में कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसी वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लिये विषय है ही, वेद का उनको समझाने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इस ब्रह्म में विधिनिषेध भी न रहने से कोई सार्थकता नहीं है (ऊपर. २)। इसलिये, क्रिया से असंबंधित ये वेदान्त वाक्य निरर्थक हैं।'

इसके प्रत्याक्षेप में यदि वेदान्ती कहे कि 'ब्रह्म ज्ञानकाण्ड का विषय है, कर्मकाण्ड के वाद का यहाँ अन्वय नहीं होता' – तो पूर्वमीमांसक का प्रत्युत्तर होगा: 'ज्ञानकाण्ड के उपनिषदों में भी उपासना तो कही ही है, इसलिये ब्रह्मवाक्यों का मानसिककर्मरूप उपासनाओं से तो सम्बन्ध है ही। यदि वह भी नहीं हो तो उनकी प्रमाणिकता ही नहीं रहेगी।'

सिद्धान्ती: ऐसा नहीं है। ब्रह्म शास्त्रयोनि ही है क्योंकि उसी में सब उपनिषद वाक्यों का समन्वय हो रहा है। कैसे हो रहा है? इस पर कहते हैं:–

तत्तु समन्वयात् (सू. १.१.४)

तु–परन्तु; तत्–वह ब्रह्म (शास्त्रयोनि ही है); समन्वयात्–समन्वय के कारण

२. तु शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तद् ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेव अवगम्यते। कथम्? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ''सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम्'' (छां. ६.२.१), ''आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'' (ऐ. १.१.१), ''तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः'' (बृ. २.५.१९), ''ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्तात्'' (मुं. २.२.१२) इत्यादीनि। न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वये अवगम्यमाने अर्थान्तरकल्पना युक्ता। श्रुतहान्यश्रुतकल्पना प्रसङ्गात्।

२. 'तु' शब्द पूर्वपक्ष के खण्डन के लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत्, और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण वह ब्रह्म वेदान्तशास्त्र से ही जाना जाता है। किस प्रकार (जाना जाता है)? समन्वय से। 'सदेव०' (हे प्रियदर्शन! यह सब जगत् उत्पत्ति के पूर्व में एक ही अद्वितीय ब्रह्म था) 'आत्मा वा०' (यह एक ही आत्मा सृष्टि के पूर्वकाल में था), 'तदेत०' (वह यह ब्रह्म, पीछे वाला नहीं आगे वाला नहीं अंदर वाला नहीं बाहर वाला नहीं वह ब्रह्म सब का अनुभव करनेवाला आत्मा ही है), 'ब्रह्मैवेदं०' (यह जो सामने भासता है, वह अमृतरूप ब्रह्म ही है)

इत्यादि वाक्य सब वेदान्तों में तात्पर्य से इसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए ब्रह्म में समन्वित हैं। इनमें आये हुए पदों का ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय अवगत होने पर अन्य अर्थ की कल्पना करना ठीक नहीं है, क्योंकि (ऐसा करने से), सुनी हुई की हानि, और नहीं सुनी हुई की कल्पना हो जाती है।

(२.१) सूत्र में 'तत्' शब्द ब्रह्म का वाचक है। कौन सा ब्रह्म? जन्मादि सूत्र में सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्त, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म। यह शास्त्रयोनि ही है, अर्थात् शास्त्र से ही जाना जाता है। ***'श्रुत्यवगाह्यम् एव इदम् अतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्'***–यह अतिगम्भीर ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है, तर्क से नहीं (सू.भा. २.१.३१)। उपनिषदों के सारे वाक्यों और उनके पदों का इस ब्रह्म में ही समन्वय होता है (सम्यक् अन्वय=समन्वय), इसके दृढ़ीकरण के लिये चारों वेदों में से एक-एक वाक्य लिया गया है:-

सामवेद के छान्दोग्य का ***'सदेव सोम्य.....'*** का तात्पर्य है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ रूप जगदाकार में खड़ा हुआ है; क्षेत्रज्ञ वही है।

ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद के ***'आत्मा वा इदम्.....'*** वाक्य का तात्पर्य यह है कि पहले एक आत्मा ही था। उसी ने जगत् की सृष्टि करके, देह में जीवरूप से प्रवेश किया। प्रज्ञानब्रह्म यही है।

शुक्लयजुर्वेद के बृहदारण्यक के वाक्य ***'तदेतद् ब्रह्म'*** का तात्पर्य है कि ब्रह्म अपने स्वरूप को समझाने के लिये स्वयं ही नानारूप जगदाकार में स्थित होकर, क्षेत्रज्ञ में भी रहकर सबका अनुभव कर रहा है। वही है यह आत्मा।

मुण्डक के अथर्ववाक्य ***'ब्रह्मैवेदममृतं.....'*** का तात्पर्य है कि जो यह जानता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के रूप में दिखने वाला यह सब कुछ ब्रह्म ही है, वह स्वयं भी ब्रह्म हो जाता है।

ये सभी वाक्य और उनके अन्तर्गत पद ब्रह्म को और ब्रह्मात्मैक्त्व को निस्संदिग्ध रूप से समझा रहे हैं। इस प्रकार, उपनिषदों के वाक्य एवं पद, सबका ब्रह्म में ठीक-ठीक समन्वय होने पर भी श्रुतार्थ की हानि और अश्रुतार्थ की कल्पना करना दोष ही होगा।

३. न च तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरता अवसीयते। ''तत्केन कं पश्येत्'' (बृ. २.४.१३) इत्यादि क्रियाकारकफल-निराकरण श्रुतेः। न च परिनिष्ठितवस्तुस्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्रह्मणः। ''तत्त्वमसि'' (छां. ६.८.७) इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्र-मन्तरेण अनवगम्यमानत्वात्। यत्तु हेयोपादेयरहितत्वात् उपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः। हेयोपादेयशून्य-ब्रह्मात्मता-अवगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः। देवतादि

प्रतिपादनस्य तु स्ववाक्यगत-उपासनार्थत्वेऽपि न कश्चिद्विरोधः। न तु तथा ब्रह्मणः उपासना विधिशेषत्वं संभवति। एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादि द्वैतविज्ञान-उपमर्दोपपत्तेः। न हि एकत्वविज्ञानेन उन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति येन उपासना-विधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। यद्यपि अन्यत्र वेदवाक्यानां विधिसंस्पर्शमन्तरेण प्रमाणत्वं न दृष्टम्, तथापि आत्मविज्ञानस्य फलपर्यन्तत्वात् न तद्विषयस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। न च अनुमानगम्यं शास्त्रप्रामाण्यम्, येन अन्यत्रदृष्टं निदर्शनम् अपेक्षेत। तस्मात् सिद्धं ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वम्।

३. उन वाक्यों का, कर्ता के स्वरूप के प्रतिपादन में तात्पर्य है, ऐसा निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि 'तत्केन०' (वहाँ कौन किसको देखे) इत्यादि श्रुतियाँ क्रिया, कारक और फल का निराकरण करती हैं। ब्रह्म यद्यपि सिद्धवस्तु है, तो भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस शास्त्र के बिना ब्रह्मात्मभाव समझ में नहीं आता। '(ब्रह्म) हेय और उपादेय से भिन्न है, अतः उसका उपदेश अनर्थक है', यह जो आक्षेप किया है, यह दोष नहीं है, क्योंकि हेय और उपादेय से शून्य ब्रह्मात्मभाव के समझने से ही सब क्लेशों का नाश होकर पुरुषार्थसिद्धि होती है। यदि देवता आदि का प्रतिपादन करने वाले वाक्य वेदान्तवाक्यगत उपासना के अंग हों तो भी विरोध नहीं है। परन्तु उस प्रकार ब्रह्म उपासनाविधि का अङ्ग नहीं हो सकता है। एकत्व का ज्ञान प्राप्त होने पर ब्रह्म हेय और उपादेय न होने से क्रिया, कारक आदि द्वैतविज्ञान का नाश होना सर्वथा युक्त है। एकत्व के विज्ञान से नष्ट हुए द्वैतज्ञान का फिर संभव नहीं है। जिससे कि ब्रह्म उपासनाविधि का शेष है ऐसा प्रतिपादन किया जाय। यद्यपि अन्य स्थलों में विधि के सम्बन्ध के बिना वेदवाक्यों की प्रमाणता देखने में नहीं आती, तो भी आत्मविज्ञान का मोक्ष फल है, अतः ब्रह्मविषयक शास्त्र के प्रामाण्य का निराकरण नहीं किया जा सकता। शास्त्र का प्रामाण्य अनुमानगम्य नहीं है, जिससे कि अन्य स्थलों पर देखे हुए दृष्टान्तों की अपेक्षा करे। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

(३.१) ब्रह्मात्मैकत्व में कर्मसंबन्ध न होने का हेतु बता रहे हैं। कर्ताकारकादि द्वैत में ही कर्म हो सकता है, अन्यथा नहीं। ***'यत्र सर्वम् आत्मा एव अभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं श्रृणुयात्'***–जहाँ सब आत्मा ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसको सुने (बृ.४.५.१५), कहकर श्रुति ब्रह्मात्मैकत्व में कर्तृत्व का निराकरण करती है। इसलिये, कर्मसम्बन्ध कैसे रह सकता है?

'देवतादि प्रतिपादनस्य तु.....' उपनिषदों में उपासना तो कही है। लेकिन, उससे भी आगे उपासक

की आत्मा को ब्रह्म ही बताया है। यह ब्रह्म उपासनाविधि का अंग नहीं हो सकता क्योंकि उपासना का आधार भी द्वैतबुद्धि ही है। लेकिन ब्रह्म तो एकमेवाद्वितीय है।

'विधिसंस्पर्शम् अन्तरेण.....' यह सही है कि कर्मकाण्ड में विधिसम्बन्धरहित वाक्यों का प्रामाण्य नहीं है, परन्तु ज्ञानकाण्ड में ऐसा नहीं है। उसमें वर्णित श्रुत्युक्त ब्रह्मात्मैकत्व तो सुषुप्ति में सीधा हमारे अनुभव में आ रहा है। इस अनुभव को पकड़े रहने का ज्ञाननिष्ठारूप निदिध्यासन आत्मैकत्वविद्याफल में समाप्त होता है। इस प्रकार शास्त्रवाक्य का प्रामाण्य अनुभव के आधार पर सिद्ध होता है। क्योंकि प्रमाण का प्रमाण्य अनुभव ही होता है। इसलिये, कर्मकाण्ड के निदर्शन को खींच कर उपनिषद में ले आना और फिर अनुमान से उसके प्रामाण्य को सिद्ध करना उचित नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे ज्ञानकाण्ड के आत्मैकत्व के आधार पर कर्मकाण्ड की प्रमाणिकता पर सन्देह करना उचित नहीं है।

(३.२) इस प्रकार, ब्रह्मज्ञान से प्राप्त होने वाले आत्मैकत्व के आधार पर ब्रह्म में कर्म या उपासना रूप क्रियासंबन्ध का निराकरण होता है। लेकिन कुछ लोग फिर भी कहते हैं कि श्रुत्युक्त ब्रह्मज्ञान आत्मैकत्व सिद्धि के लिये नहीं है, परन्तु ब्रह्मोपासना, विधि का अंग है। इसलिये वे सिद्धान्त के विरोध में इस प्रकार वाद करते हैं:–

४. अत्र अपरे प्रत्यवतिष्ठन्ते। यद्यपि शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म, तथापि प्रतिपत्तिविधि विषय-तयैव शास्त्रेण ब्रह्म समर्प्यते। यथा यूप-आहवनीयादीनि अलौकिकान्यपि विधिशेषतया शास्त्रेण समर्प्यते, तद्वत्। कुत एतत्? प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनपरत्वात् शास्त्रस्य। तथा हि शास्त्रतात्पर्यविदः आहुः ''दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'' (शा.भा. १.१.१) इति। ''चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्'' (शा. भा. १.१.२), ''तस्य ज्ञानमुपदेशः...'' (शा. भा. १.१.२), ''तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'' (जै. सू. १.१.२५), ''आम्ना-यस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्....'' (जै. सू. १.२.१) इति च। अतः पुरुषः क्वचित् विषयविशेषे प्रवर्तयत् कुतश्चित् विषयविशेषात् निवर्तयच्च अर्थवत् शास्त्रम्। तच्छेषतया च अन्यत् उपयुक्तम्। तत्सामान्यात् वेदान्तानामपि तथैव अर्थवत्त्वं स्यात्। सति च विधिपरत्वे यथा स्वर्गादि कामस्य अग्निहोत्रादि साधनं विधीयते एवम् अमृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयते इति युक्तम्।

४. यहाँ दूसरा आक्षेप कहते हैं–यद्यपि शास्त्र ब्रह्म में प्रमाण है, तो भी शास्त्र, विधि के विषय उपासना का ब्रह्म अंग है, ऐसा बोध कराता है। जैसे यूप, आहवनीय आदि अलौकिक पदार्थ भी विधि के अंग हैं ऐसा शास्त्र बोध कराता है, वैसे ही। यह किस कारण से ? इससे कि

प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति यह शास्त्र का प्रयोजन है, क्योंकि शास्त्र का तात्पर्य जाननेवाले कहते हैं, 'दृष्टो हि०' (उसका अर्थ है क्रिया का ज्ञान कराना) यह और 'चोदनेति०' (चोदना क्रिया का प्रवर्तक वचन है) 'तस्य ज्ञानं०' (धर्म का ज्ञान विधिवचन से होता है) 'तद्भूतानां०' (उसमें भूतार्थक पदों को कार्यवाची पदों के साथ ही लेना चाहिए) 'आम्नायस्य०' (वेद क्रियार्थक है, अत: अक्रियार्थक वाक्य निष्फल हैं)। इसलिए पुरुष को किसी एक विषय में प्रवृत्त करानेवाला और किसी एक विषय से निवृत्त करानेवाला शास्त्र सार्थक है और दूसरे वाक्य उसके अंगभूत होकर उपयोगी होते हैं। उनके साथ सादृश्य होने से वेदान्तवाक्य भी उसी प्रकार सार्थक होते हैं। यदि (वेदान्तवाक्य) विधिपरक हों तो जैसे स्वर्ग आदिकी कामनावालेके लिए अग्निहोत्र आदि साधनों का विधान किया गया है, उसी प्रकार अमृतत्व की कामनावाले के लिए ब्रह्मविज्ञानका विधान किया गया है, ऐसा युक्त है।

(४.१) यहाँ प्रतिपत्ति विधि का अर्थ है उपासनाविधि। उपासनाविधि के लिये ही शास्त्र ब्रह्म को समझाता है। कर्मकाण्ड में अप्रसिद्ध यूप, आहवनीय इत्यादि का कर्मार्थ के लिये जैसे शास्त्र वर्णन करता है, उसी प्रकार ज्ञानकाण्ड में अप्रसिद्ध ब्रह्म का भी उपासना के लिये वर्णन किया जाता है। क्योंकि, 'तस्य ज्ञानं-वेद का प्रयोजन ही कर्म को समझाना है'। 'चोदना' का अर्थ है 'कर्म करने के लिये कहने वाला श्रुतिवाक्य' (शा.भा. 1.1.2), प्रचोदना नहीं। 'स्वर्ग की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम से यज्ञ करे', यह चोदनावाक्य है।

'तस्य ज्ञानम् उपदेश:........' 'तस्य ज्ञानम् अर्थात् वेद जिस धर्म को समझाता है (उदाहरण: अग्निहोत्र) उसका उपदेश अर्थात् विधिवचन। दोनों का (धर्म और विधिवचन का) साथ-साथ कथन होना ही धर्म का प्रामाण्य है।

'तद्भूतानाम्...........' वेद लोक के पदपदार्थों का आश्रय लेकर ही अज्ञात विषयों को समझाता है। क्यों? क्रियारूप प्रयोजन के लिये।

'आम्नायस्य........' 'क्रिया को न कहनेवाले वाक्य निरर्थक हैं', ऐसा कहकर पूर्वपक्षी शास्त्रवाक्यों के अर्थ का निर्णय क्रिया पर ही करने के लिये कहता है। इन सारे शास्त्रवाक्यों का तात्पर्य मुख्यत: प्रवृत्ति-निवृत्ति उत्पन्न करने वाले विधि-निषेधों में है। इतरवाक्य स्तुति-निन्दा या विधि के अंग रूप में उपयुक्त होते हैं। इसी नियम का वेदान्तवाक्यों में भी अन्वय होता है क्योंकि कर्मकाण्ड की तरह उपनिषद भी वेदभाग ही हैं। इसलिये ब्रह्मज्ञान ब्रह्मोपासना का अंग ही है। आगे, अपने इस वाद के ऊपर सिद्धान्ती के प्रत्याक्षेप का प्रत्युत्तर देकर मीमांसक वाद करता है कि ब्रह्मवाक्य उपासना के अंग ही हैं।

Maha Parivrajaka

५. नन्विह जिज्ञास्यवैलक्षण्यम् उक्तम् कर्मकांडे भव्यो धर्मो जिज्ञास्यः, इह तु भूतं नित्यनिर्वृत्तं ब्रह्मजिज्ञास्यमिति? तत्र धर्मज्ञानफलात् अनुष्ठानापेक्षात् विलक्षणं ब्रह्मज्ञान-फलं भवितुमर्हति। नार्हत्येवं भवितुम्। कार्यविधिप्रयुक्तस्यैव ब्रह्मणः प्रतिपाद्यमानत्वात् ''आत्मा वा अरे द्रष्व्यव्यः'' (बृ. २.४.५) इति। ''य आत्मा अपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः'' (छां. ८.७.१), ''आत्मेत्येवोपासीत'' (बृ. १.४.७), ''आत्मानमेव लोकमुपासीत'' (बृ. १.४.१५), ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'' (मुं. ३.२.९) इत्यादि विधानेषु सत्सु कोऽसौ आत्मा? किं तद् ब्रह्म? इत्याकांक्षायां तत्स्वरूपसमर्पणेन सर्वेवेदान्ता उपयुक्ताः ''नित्यः सर्वज्ञः सर्वगतः नित्यतृप्तः नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः'', ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' इत्येवमादयः। तदुपासनाच्च शास्त्रदृष्टोऽदृष्टः मोक्षः फलं भविष्यतीति।

५. यदि कहो कि यहाँ जिज्ञास्य का भेद कहा है-कर्मकाण्ड में साध्यधर्म जिज्ञास्य है और यहाँ तो सिद्ध और अविनाशी ब्रह्म जिज्ञास्य है। उनमें अनुष्ठान की अपेक्षा वाले धर्मज्ञान के फल से ब्रह्मज्ञान का फल विलक्षण होना चाहिए। तो ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि कार्यविधि में प्रयुक्त हुआ ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। 'आत्मा वा०' (अरे मैत्रेयि! आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए) 'य आत्मा०' (जो आत्मा पापरहित है, उसकी खोज करनी चाहिए, उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करनी चाहिए) 'आत्मेत्ये०' (आत्मा इसी प्रकार उपासना करनी चाहिए) 'आत्मानमेव०' (आत्मा की ही स्वलोक रूप से उपासना करे) 'ब्रह्म वेद०' (ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है) इत्यादि विधान हैं, इसलिए वह आत्मा कौन है, वह ब्रह्म क्या है ऐसी आकांक्षा होने पर ब्रह्म के स्वरूप का बोध कराने के लिए 'नित्यः सर्वज्ञः०' (ब्रह्म नित्य, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप है) ये और दूसरे सब वेदान्तवाक्य उपयुक्त हैं। उस ब्रह्म की उपासना द्वारा शास्त्र से अवगत अदृष्ट मोक्षरूप फल होगा।

(५.१) सिद्धान्ती का प्रत्याक्षेपः–कर्मकाण्ड में जिज्ञास्य धर्म है और ज्ञानकाण्ड में ब्रह्म। ये दोनों विलक्षण हैं। धर्म आगे होनेवाले अनुष्ठान की अपेक्षा रखता है। ब्रह्म अभी है और सर्वदा रहनेवाला भी है यह कह चुके हैं; इसलिये, दोनों के फल का स्वरूप भी अलग-अलग ही होगा न?

मीमांसक का प्रत्युत्तरः–ऐसा होने की आवश्यकता नहीं है। कर्मकाण्ड में जैसे पहले कर्म का ज्ञान फिर उसका अनुष्ठान और अनन्तर उसके फल की व्यवस्था है वैसे ही ज्ञानकाण्ड में भी पहले ब्रह्म का ज्ञान, फिर ब्रह्मोपसना और उसके अनन्तर अदृष्ट मोक्षफल की व्यवस्था है।

Maha Parivrajaka

'आत्मा की ही स्वलोकरूप से उपासना करे–आत्मानम् एव लोकम् उपासीत' इस प्रकार स्पष्टरूप से उपासनाविधि ही कही गयी है। तथा 'वह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युहीन, शोक, भूख, प्यास इत्यादि से रहित है' 'विज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप ब्रह्म' इस प्रकार उपास्य लक्षणों को भी कहा ही है।

इस प्रकार कुछ उपनिषदवाक्यों का उपासनाविधि से सम्बन्ध कहकर पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि 'कार्य से असंबन्धित परिनिष्ठित वस्तु का वर्णन करना निरर्थक है'।

६. कर्तव्यविध्यननुप्रवेशे वस्तुमात्रकथने हानोपादान असंभवात् ''सप्तद्वीपा वसुमती'', ''राजासौ गच्छति'' इत्यादि वाक्यवत् वेदान्तवाक्यानाम् आनर्थक्यमेव स्यात्। ननु वस्तु-मात्रकथनेऽपि ''रज्जुरियं नायं सर्प:'' इत्यादौ भ्रान्तिजनितभीतिनिवर्तनेन अर्थवत्त्वं दृष्टम्? तथा इहापि असंसार्यात्मवस्तुकथनेन संसारित्वभ्रान्तिनिवर्तनेन अर्थवत्त्वं स्यात्। स्यादेतदेवं यदि रज्जु स्वरूपश्रवणे इव सर्पभ्रान्तिः संसारित्वभ्रान्तिः ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत। न तु निवर्तते। श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदु:खादि संसारिधर्मदर्शनात्। ''श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:'' (बृ. २.४.५) इति च श्रवणोत्तरकालयोः मनननिदि-ध्यासनयो:विधिदर्शनात्। तस्मात् प्रतिपत्तिविधिविषयतया एव शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म अभ्युप-गन्तव्यमिति।

६. परन्तु वेदान्तवाक्यों को कर्तव्यविधि का शेष न मानें और वे वस्तुमात्र का कथन करते हैं ऐसा समझें तो हान और उपादान का असंभव होने से 'सप्तद्वीपा०' (सात द्वीपवाली पृथिवी) 'राजाऽसौ०' (यह राजा जाता है) इत्यादि वाक्यों के समान वेदान्तवाक्य अनर्थक हो जायेंगे। यदि कहो कि 'रज्जुरियं०' (यह रज्जु है यह सर्प नहीं है) इत्यादि वस्तुमात्रकथन भी भ्रान्ति से उत्पन्न हुए भय की निवृत्ति करके सार्थक होता है, ऐसा देखने में आता है; इसी प्रकार यहाँ भी असंसारी आत्मतत्त्व का कथन संसारित्व की भ्रान्ति की निवृत्ति करके सार्थक होता है। यह तभी हो सकता है जब कि जैसे वस्तुस्वरूप के श्रवण से सर्प का भय निवृत्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मस्वरूप के श्रवणमात्र से संसारित्व की भ्रान्ति दूर हो जाय। परन्तु वह (भ्रान्ति) निवृत्त नहीं होती, क्योंकि जिन्होंने ब्रह्म का श्रवण किया है, उनमें भी पूर्व के समान सुख, दु:ख आदि संसारिक धर्म देखने में आते हैं। 'श्रोतव्यो०' (श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन करना चाहिए) इसमें श्रवण के उत्तरकाल में मनन और निदिध्यासन देखने में आते हैं, इसलिए ऐसा अंगीकार करना चाहिए कि उपासनाविधि का विषय होने से ही ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक है।

Maha Parivrajaka

(६.१) ऊपर सिद्धान्ती के प्रश्न 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' इत्यादि में एक संशय है। सर्पजनित भ्रांति की निवृत्ति तो रज्जु के ज्ञान से ही होती है, 'यह रज्जु है, सर्प नहीं' इस वस्तुमात्रकथन से तो नहीं होती है न?

उत्तर:–सत्य। उस कथन के श्रवण के पश्चात् श्रोता जब रज्जु की परीक्षा करके रज्जुज्ञान पाता है तभी भ्रान्ति निवृत्त होती है। लेकिन वक्ता के द्वारा जो होता है वह तो वस्तुमात्र का कथन ही है न; उसी प्रकार, दार्ष्टान्त में श्रुति द्वारा कहे ब्रह्मस्वरूपमात्रकथन से निपुण मति वाले जिनको अज्ञान, संशय, या विपर्ययरूप 'तत्' 'त्वम्' पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं हैं, वे एक बार में ही 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ अनुभव कर लेते हैं– ***'येषां पुनः निपुणमतीनां न अज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धः अस्ति ते शक्नुवन्ति सकृत् उक्तम् एव तत्त्वमसिवाक्यार्थम् अनुभवितम्*** (सू.भा. ४.१.२)। अनिपुणमति को तो श्रवणान्तर मनन और निदिध्यासन करना ही होता है। सिद्धान्त के अनुसार ये विधि है या नहीं इसकी चर्चा बाद में होगी। प्रस्तुत में तो, पूर्वपक्षी के अनुसार, 'केवल श्रवणमात्र से ही फल नहीं है। फल के लिये तो श्रुतब्रह्म की उपासना करनी ही होती है; इसलिये, श्रुत्युक्त मनन और निदिध्यासन उपासनाविधि ही हैं। इस प्रकार, प्रतिपत्तिविधि के विषय होकर ही ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक हैं।'

अब आगे, इनमें से हर आक्षेप का उत्तर देकर सिद्धान्त का प्रतिपादन करेंगे। अब तक आये आक्षेप इस प्रकार हैं :–

(अ) कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों वेद ही होने से कर्मकाण्ड के नियम का ज्ञानकाण्ड में भी अन्वय होता है।

(आ) यह अन्वय उपासनाविधि के द्वारा हो सकता है।

(इ) उपनिषद में उपासना कही भी गयी है।

(ई) मोक्ष उपासना का अदृष्ट फल है।

(उ) केवल वस्तुमात्र के कथन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

(ऊ) ब्रह्मज्ञानानंतर भी संसार रहता ही है, उसका नाश नहीं होता।

७. अत्राभिधीयते न। कर्मब्रह्मविद्याफलयोःवैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यम्, यद्विषया जिज्ञासा ''अथातो धर्मजिज्ञासा'' (जै. सू. १.१.१) इति सूत्रिता। अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदना लक्षणत्वात् जिज्ञास्यः परिहाराय। तयोः चोदनालक्षणयोः अर्थानर्थयोः धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेव उपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे। मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यम् अनुश्रूयते। ततश्च तद्धेतोर्धर्मस्य

तारतम्यं गम्यते। धर्मतारतम्यात् अधिकारतारतम्यम्। प्रसिद्धं च अर्थित्व सामर्थ्यादि कृतम् अधिकारितारतम्यम् । तथा च यागाद्यनुष्ठायिनामेव विद्यासमाधिविशेषात् उत्तरेण पथागमनम्, केवलैः इष्टापूर्तदत्तसाधनैः धूमादि क्रमेण दक्षिणेन पथागमनम्, तत्रापि सुखतारतम्यं तत्साधनतारतम्यं च शास्त्रात् ''यावत्संपातमुषित्वा'' (छां. ५.१०.५) इत्यस्मात् गम्यते। तथा मनुष्यादिषु नारकस्थावरान्तेषु सुखलवः चोदनालक्षणधर्मसाध्य एव इति गम्यते तारतम्येन वर्तमानः। तथा ऊर्ध्वगतेषु अधोगतेषु च देहवत्सु दुःख-तारतम्यदर्शनात् तद्धेतोरधर्मस्य प्रतिषेधचोदनालक्षणस्य तदनुष्ठायिनां च तारतम्यं गम्यते। एवम् अविद्यादि दोषवतां धर्माधर्मतारतम्यनिमित्तं शरीरोपादानपूर्वकं सुख-दुःखतारतम्यं अनित्यं संसाररूपं श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम्। तथा च श्रुतिः ''न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः अपहतिरस्ति'' (छां. ८.१२.१) इति यथावर्णितं संसाररूपम् अनुवदति।

७. (यहाँ तक पूर्वपक्ष ग्रन्थ है) इस पर कहा जाता है नहीं, क्योंकि कर्म और ब्रह्मविद्या के फल विलक्षण हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध, धर्मसंज्ञक हैं, जिसकी जिज्ञासा 'अथातो०' (वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म का निर्णय करने के लिए धर्मजिज्ञासा करनी चाहिए) इस सूत्र में प्रतिपादित है। प्रतिषेधवाक्यों से लक्षित होने के कारण परिहार के लिए हिंसादिरूप अधर्म की भी जिज्ञासा करनी चाहिए। चोदना जिसका लक्षण है, ऐसा अर्थ और अनर्थरूप धर्म एवं अधर्म के फल सुख और दुःख प्रत्यक्ष हैं, उनका उपभोग शरीर, वाणी और मन से होता है, विषय और इन्द्रियों के संयोग से वे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी में प्रसिद्ध हैं। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य श्रुति में वर्णित है, सुखतारतम्य से उसके हेतु धर्म का तारतम्य भी ज्ञात होता है और धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य सूचित होता है। फलकामना, सामर्थ्य आदि कारणों से अधिकारी का तारतम्य प्रसिद्ध है। इस प्रकार याग आदि अनुष्ठान करनेवाले लोग ही विद्या (उपासना) रूप समाधिविशेष के बल से उत्तरमार्ग से जाते हैं। केवल इष्टा, पूर्त और दत्तरूप साधनों से सम्पन्न पुरुष धूम आदि क्रम से दक्षिण मार्ग से जाते हैं। वहाँ भी सुख और उसके साधनों का तारतम्य 'यावत्०' (भोग्य कर्मों के निश्शेष होने तक वहाँ रहकर पीछे लौटता है) इस शास्त्र से जाना जाता है। इस प्रकार अनुमान होता है कि मनुष्य से लेकर नारकीय और स्थावरपर्यन्त जीवों में तारतम्य से विद्यमान सुखलेश प्रवर्तक धर्म से ही जन्य है। इसी प्रकार स्वर्गीय और नारकीय जीवों में दुःख

Maha Parivrajaka

का तारतम्य देखने में आता है, उससे उसके हेतु प्रतिषेधप्रवर्तक वाक्यों से लक्षित अधर्म का और उसके अनुष्ठान करने वालों का तारतम्य जाना जाता है। इस प्रकार अविद्या आदि दोष वालों के धर्म और अधर्म के तारतम्य से शरीर-ग्रहणपूर्वक उत्पन्न हुए सुख-दु:ख का तारतम्य अनित्य और संसाररूप है, ऐसा श्रुति, स्मृति और न्याय में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'न ह वै०' (सशरीरी के सुख-दु:ख का विनाश नहीं होता है) यह श्रुति पूर्ववर्णित संसाररूप का अनुवाद करती है।

(७.१) जिज्ञासा अधिकरण में 'धर्म ब्रह्मजिज्ञासयो: फल जिज्ञास्य भेदाच्च' कहकर कर्मफल-ब्रह्मविद्याफल में जिस अंतर को सूचित किया था, उसका विवरण यहाँ है। दोनों के फल और विषय में भेद दिखा रहे हैं। कर्म कायेन, वाचा, मनसा होते हैं। श्रुत्युक्त धर्माधर्म के अनुगुण होने वाले सत्कर्मों का फल सुख और दुष्कर्मों का फल दु:ख प्रत्यक्ष हैं, कायेन, वाचा, मनसा अनुभव में आनेवाला और तारतम्य वाला है। अधिकारी तारतम्य यह है:-कर्म का अधिकारी ***'अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्त:'***- फलाकांक्षी, कर्म करने में समर्थ, कर्म स्वरूप को जानने वाला विद्वान, और शास्त्र द्वारा उस कर्म के लिये अनिषिद्ध जो होता है, वही अधिकारी होता है। अर्थित्व, सामर्थ्य और विद्याओं में तारतम्य रहता है।

इष्टा का अर्थ है कर्ता को ही अपना फल देने वाले अग्निहोत्रादि कर्म; पूर्त का अर्थ है अन्य को और पारंपर्य से अपने को भी फल देने वाले कुंआ, बावड़ी आदि बनवाना रूप कर्म; दत्त का अर्थ है दान। इस प्रकार, 'सशरीरी के प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं होता है'। शरीर में अध्यास करने वाला जीव ही सशरीरी होता है। वही कर्म करता है और फल भोगता है; उसकी सुख दु:ख से मुक्ति नहीं होती।

८. ''अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'' (छां. ८.१२.१) इति प्रियाप्रिय-स्पर्शनप्रतिषेधात् चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्य अशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यते इति गम्यते। धर्मकार्यत्वे हि प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषेधो नोपपद्यते। अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमिति चेत्? न। तस्य स्वाभाविकत्वात्। ''अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति'' (क. १.२.२), ''अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः'' (मुं. २.१.२), ''असंगोह्ययं पुरुषः'' (बृ. ४.३.१५) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अत एव अनुष्ठेय कर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यम् अशरीरत्वं नित्यमिति सिद्धम्।

८. 'अशरीरं०' (प्रिय और अप्रिय वस्तुत: अशरीरी का स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से प्रिय और अप्रिय के स्पर्श के प्रतिषेध से मोक्षसंज्ञक अशरीर स्थिति के चोदनालक्षण धर्म से उत्पन्न होने का प्रतिषेध किया है, ऐसा जाना जाता है, क्योंकि मोक्ष को धर्म से उत्पन्न मानें तो उसमें प्रिय और अप्रिय के स्पर्श का प्रतिषेध संगत न होगा। तब शरीररहितस्थिति ही धर्म से उत्पन्न हो, यह

कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अशरीरं०' (अशरीर, अनित्य शरीरों में स्थित, महान और विभु आत्मा को जानकर विद्वान् शोक नहीं करता) 'अप्राणो०' (प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध) 'असंगो हि०' (यह पुरुष सङ्गरहित है) इत्यादि श्रुतियों से यह स्थिति स्वाभाविक ज्ञात होती है। इसी कारण अनुष्ठेय कर्म के फल से विलक्षण मोक्षसंज्ञक शरीररहित स्थिति नित्य है यह बात सिद्ध होती है।

(८.१) 'सशरीरी के प्रिय-अप्रिय का नाश नही होता' यह कहकर अगले वाक्य में 'अशरीरी को प्रिय-अप्रिय का स्पर्श भी नहीं है' कहने से अशरीरी का अर्थ 'शरीर के मरने के बाद' नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों वाक्य अमुक्त और मुक्त की तुलना में कहे गये हैं; और मृत को प्रियाप्रिय का स्पर्श है या नहीं, अन्य लोग नही समझ सकते। इतना ही नहीं, अशरीरत्व धर्मफल भी नहीं है, क्योंकि धर्म से प्रिय का स्पर्श तो होता ही है। इन श्रुतिवाक्यों से यह भी स्पष्ट है कि अशरीरत्व ही मुक्ति है। इसलिये, मोक्ष अदृष्ट फल नहीं है; मरने के बाद प्राप्त होने वाला नहीं है। यह नित्य ही है क्योंकि यदि यह कर्मफल के समान व्यय होने वाला होता तो शोक फिर से लौटकर आ सकता था। परन्तु कठश्रुति मुक्त में शोक का निषेध करती है।

९. तत्र किंचित् परिणामिनित्यं यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि तदेवेदमिति बुद्धिः न विहन्यते। यथा पृथिव्यादि जगन्नित्यत्ववादीनाम्। यथा च सांख्यानां गुणाः। इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं व्योमवत् सर्वव्यापि सर्वविक्रियारहितं नित्यतृप्तं निरवयवं स्वयं-ज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सहकार्येण कालत्रयं च नोपावर्तेते। तदेतत् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। ''अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च'' (क. १.२.१४) इत्यादि श्रुतिभ्यः। अतः तद् ब्रह्म यस्य इयं जिज्ञासा प्रस्तुता। तद्यदि कर्तव्यशेषत्वेन उपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेत् मोक्षो अभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। तत्र एवं सतिः यथोक्तकर्मफलेष्वेव तारतम्यावस्थितेषु अनित्येषु कश्चिद् अतिशयो मोक्षः इति प्रसज्येत। नित्यश्च मोक्षः सर्वैः मोक्षवादिभिः अभ्युपगम्य-ते। अतः न कर्तव्यशेषत्वेन ब्रह्मोपदेशो युक्तः।

९. (नित्य भी दो प्रकार का होता है परिणामी नित्य और कूटस्थ नित्य) परिणामी नित्य वह कहलाता है, जिसके विकृत होने पर भी 'यह वही है' ऐसी बुद्धि का नाश नहीं होता, जैसे कि जगत् नित्य है ऐसा कहनेवालों के मत में पृथिवी आदि, और जैसे कि सांख्यों के मत में गुण। परन्तु यह (मोक्ष) वास्तविक कूटस्थ नित्य है, आकाश के समान सर्वव्यापी है, सब विक्रियों से रहित नित्यतृप्त, निरवयव एवं स्वयंप्रकाश स्वभाव है, जहाँ धर्म-अधर्म अपने कार्य (सुख-दुःख)

Maha Parivrajaka

के साथ तीनों काल में भी सम्बन्ध नहीं रख सकते। वह 'अन्यत्र धर्मा०' (धर्म से, अधर्म से, कार्य से, कारण से, भूत से, भविष्य से, और वर्तमान से पृथक् है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध शरीररहित स्थिति मोक्ष है। इसलिये कर्मफल से विलक्षण होने के कारण वह मोक्ष ब्रह्म है, जिसकी जिज्ञासा प्रस्तुत है। यदि वह कार्यशेष है ऐसा शास्त्र से उपदेश हो और मोक्ष कार्यसाध्य है ऐसा अंगीकार किया जाये तो वह अनित्य ही होगा। मोक्ष में अनित्यता सिद्ध होने पर न्यूनाधिक भाव से स्थित यथोक्त अनित्य कर्मफलों में ही कुछ अतिशय मोक्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। परन्तु सब मोक्षवादी अंगीकार करते हैं कि मोक्ष नित्य है। इस कारण, कार्य के अङ्गरूप से ब्रह्म का उपदेश करना संगत नहीं होता।

(९.१) इस परिच्छेद में भाष्यकार बता रहे हैं कि मोक्ष का नित्यत्व किस प्रकार का है। वह परिणामी नित्य नहीं है। उदाहरण के लिये, नदी परिणामी नित्य है। जो पानी दिखायी देता है, उसके बदलते रहने पर भी एक ही नदी की बुद्धि का नाश नहीं होता है, इसलिये नित्य है। लेकिन मोक्ष ऐसा नहीं है, वह कूटस्थ नित्य है। अर्थात्, आकाश की तरह सर्वव्याप्त होकर सर्वत्र, सर्वकाल एक ही रूप में रहने वाला। किसी प्रकार का कोई बदलाव नहीं, ये लक्षण ब्रह्म के ही होने से मोक्ष ब्रह्म ही है। यह ब्रह्म यदि कर्म या उपासना का अंग होकर उनसे मिलनेवाला मोक्ष होता तो वह भी कर्मफल के समान अनित्य ही होता। इसलिये, ब्रह्मज्ञान कर्तव्यशेष नहीं हो सकता।

१०. अपि च ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'' (मुं. ३.२.९), ''क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'' (मुं. २.२.९), ''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'' (तै. २.९), ''अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'' (बृ. ४.२.४), ''तदात्मानमेवावेत् अहं ब्रह्मास्मीति, तस्मात्तत्सर्वमभवत्'' (बृ. १.४.१०), ''तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'' (ई. ७) इत्येवमाद्याः श्रुतयः ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यः मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। तथा ''तद्धैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च'' (बृ. १.४.१०) इति ब्रह्मदर्शन-सर्वात्मभावयोर्मध्ये कर्तव्यान्तरवारणाय उदाहार्यम्। यथा ''तिष्ठन् गायति'' इति तिष्ठति गायत्योर्मध्ये तत्कर्तृकं नास्तीति गम्यते।

१०. और ' ब्रह्म वेद०' (जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) 'क्षीयन्ते चास्य०' (पर-सम्पूर्ण देवताओं की अपेक्षा उत्कृष्ट हिरण्यगर्भ आदि भी जिससे अवर-निकृष्ट हैं, उसको देखने पर अथवा कारण और कार्य के रूप (ब्रह्म) को देखने पर द्रष्टा के (संचित और आगामी सब) कर्म नष्ट हो जाते हैं) 'आनन्दं०' (ब्रह्म के स्वरूप आनन्द को जानने वाला किसी से भय

नहीं करता) 'अभयं०' (हे जनक! तू अभय-ब्रह्म को प्राप्त हुआ है) 'तदात्मानमेव०' (उसने अपने आप को ही 'मैं ब्रह्म हूँ', ऐसा जाना (उस ज्ञान से वह सब कुछ बना) 'तत्र को मोहः०' (एकत्व के अनुभवी को कैसे शोक और कैसे मोह होते हैं?) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हुईं ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के मध्य में कार्यान्तर का वारण करती हैं। इसी प्रकार 'तद्धैतत्०' (ऐसा ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान से वामदेव ने मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ, ऐसा जाना) इस श्रुति को ब्रह्मदर्शन और सर्वात्मभाव के मध्य में कार्यान्तर का प्रतिषेध करने के लिए उदाहरणरूप से कहना चाहिए। जैसे कि 'खड़ा होकर गाता है' इसमें खड़े होने और गाने की क्रियाओं के बीच में उस कर्ता का कार्यान्तर नहीं है ऐसा मालूम होता है।

(१०.१) ब्रह्मज्ञान के अकर्तव्यशेषत्व को समझाने के पश्चात् उसके दृढ़ीकरण के लिये ही सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मज्ञान होते ही मोक्ष है, बीच में करने के लिये कुछ नहीं है। 'ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है' इस कथन में ब्रह्मज्ञान और ब्रह्म होने के बीच में श्रुति किसी कर्म को नहीं कहती। लेकिन, ब्रह्मोपासना में उपासक उपास्य ही नहीं हो जाता।

'क्षीयन्ते' इत्यादि वाक्यों में जब सीधा आत्मज्ञान से सर्वकर्मनाश की बात कह रहे हैं, तब कर्म का प्रवेश कहां से हो सकता है?

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' वाक्य में विद्वान् के जीवित रहते समय ही भय का नाश कह रहे हैं। 'अभयं वै' में 'प्राप्तोऽसि'-तत्त्वज्ञान होते ही जनक को अभयप्राप्ति बता रहा है। 'प्राप्स्यसि' कहकर भविष्य में अभयप्राप्ति नहीं कही गयी है। इसी प्रकार, दूसरे वाक्यों में भी कार्यान्तर का निवारण स्पष्ट ही है।

११. ''त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि'' (प्र. ६.८), ''श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु'' (छां. ७.१.३), ''तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः''(छां. ७.२६.२) इति चैवमाद्याः श्रुतयः मोक्षप्रतिबंध-निवृत्तिमात्रमेव आत्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति। तथा च आचार्यप्रणीतं न्यायोपबृंहितं सूत्रम् ''दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायात् अपवर्गः'' (न्या.सू. १.१.२) इति। मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानात् भवति।

११. 'त्वं हि नः पिता०' (आप हमारे पिता हैं जो आप हमको अविद्यारूप महासागर के परं पार पहुँचाते हैं) 'श्रुतं ह्येव०' (आत्मा को जाननेवाला शोक से पार हो जाता है, ऐसा मैंने भगवत्तुल्य पुरुषों से सुना है, (देखा नहीं अर्थात् मुझे अनुभव नहीं है) हे भगवन्! वह मैं शोक

करता हूँ। मुझको, भगवान्, शोक के पार उतार दीजिए) 'तस्मै मृदित०' (भगवान् सनत्कुमार ने उस दग्धपाप नारद को अज्ञान से परे (अर्थात् ब्रह्म) दिखलाया) इत्यादि श्रुतियाँ दिखलाती हैं कि मोक्ष के प्रतिबन्ध की निवृत्ति ही आत्मज्ञान का फल है। इसी प्रकार न्याय से पुष्ट हुआ आचार्य (गौतम) रचित सूत्र है–'दु:खजन्म०' (दु:ख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष एवं मिथ्याज्ञान, इनके कारणरूप उत्तरोत्तर का नाश होने से उसके पूर्व-पूर्व कार्य का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होता है) और मिथ्याज्ञान का नाश तो ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान से होता है।

(११.१) इस प्रकार ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के बीच कार्यान्तर का निषेध किया गया। 'यदि ऐसा है, तो ब्रह्मज्ञान से सीधा मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है?' अब बताते हैं:–'हमें अविद्या के परं पार पहुंचाते हैं' कहने से 'ब्रह्मस्वरूप का अज्ञान ही मोक्ष में बाधक है और ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है', ये दोनों एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं। छान्दोग्य में सनत्कुमार जी द्वारा नारद जी को दिये दोनों उपदेशवाक्यों का यही अर्थ है।

न्यायाचार्य गौतम के सूत्र का उल्लेख मोक्षप्राप्ति का क्रम समझाने के लिये किया गया है। स्वरूप के अज्ञान से मिथ्याज्ञान होता है, मिथ्याज्ञान से रागादि दोष होते हैं, इनसे कर्म में प्रवृत्ति होती है, उससे जन्म होता है, उससे दु:ख की प्राप्ति होती है। इसलिये, अविद्या के नाश से मिथ्याज्ञान का नाश, उससे दोषों का नाश, उससे प्रवृत्ति का नाश, उससे जन्म का नाश और उससे दु:ख का नाश होता है।

प्रश्न: न्यायसूत्रों में जन्मनाश से ही दु:ख का नाश कहा गया है, तो फिर विदेहमुक्ति ही मोक्ष है क्या?

उत्तर: ऐसा नहीं है। अध्यास का नाश प्रस्तुत शरीर के नाश के समान ही है, क्योंकि, ज्ञानी का शरीर तो 'जिस प्रकार सर्प की काँचुली बाँबी के ऊपर मृत और परित्यक्त पड़ी रहती है उसी प्रकार मृत और परित्यक्त के समान पड़ा रहता है' (बृ.४.४.७), इसलिये मोक्ष जीवनमुक्ति ही है।

और एक बात:- भाष्यकार द्वारा मोक्षक्रम के लिये न्यायसूत्रों का उल्लेख करने पर भी उनका और वेदान्त का तत्त्वज्ञान अलग-अलग ही है। उनके अनुसार, आत्मा का अपने को अनात्मा समझना ही मिथ्याज्ञान है और अपने को अनात्मा से अलग करके समझना ही तत्त्वज्ञान है। यहाँ अगर आत्मा क्षेत्रज्ञ प्राज्ञ हो और अनात्मा क्षेत्र हो तो वह वेदान्त का आत्मानात्म-अविवेक मिथ्याज्ञान ही है, अध्यासभाष्य में यह स्पष्ट हो चुका है। इस आत्मा का हर दिन सुषुप्ति में अनात्मा से अलग हो जाना सबके अनुभव में है ही। इतने मात्र से ही तत्त्वज्ञान का कुछ बोध नहीं होता है और उठते ही मिथ्याज्ञान फिर आ जाता है। इसलिये वेदान्त इसका कारण दिखाकर मिथ्याज्ञान नाश के क्रम को सिखाता है। मिथ्याज्ञान का हेतु है स्वयं को ब्रह्म नहीं जानना, अर्थात् अविद्या। ब्रह्मात्मैकत्व समकाल में ही अविद्या के नाश से 'अनात्मा मुझ से अलग नहीं, लेकिन मैं अनात्मा से अलग हूँ', इस तत्त्वज्ञान का बोध होता है। इसका पूर्वार्ध सर्वात्मभाव है, उत्तरार्ध स्वरूपज्ञान है। दोनों अलग नहीं हैं, एक ही हैं। क्योंकि सर्वात्मभाव में प्रपंचविलय अंतर्गत है।

Maha Pariyojaka

१२. न च इदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्। यथा ''अनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वे-देवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति'' (बृ. ३.१.९) इति। न च अध्यासरूपम् यथा ''मनो ब्रह्मेत्युपासीत'' (छां. ३.१८.१), ''आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'' (छां. ३.१९.१) इति च मन आदित्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्यध्यासः। नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम् ''वायुर्वाव संवर्गः'' (छां. ४.३.१) ''प्राणो वाव संवर्गः'' (छां. ४.३.३) इतिवत्। नापि आज्यावेक्षणादि कर्मांगसंस्काररूपम्। संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञाने अभ्युपगम्य-माने ''तत्त्वमसि'' (छां. ६.८.७), ''अहं ब्रह्मास्मि'' (बृ. १.४.१०), ''अयामात्मा ब्रह्म'' (बृ. २.५.१९) इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत। ''भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः'' (मुं. २.२.८) इति चैवमादीनि अविद्यानिवृत्तिफलश्रवणानि उपरुध्येरन्। ''ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'' (मुं. ३.२.९) इति चैवमादीनि तद्भावापत्तिवचनानि संपदादि पक्षे न सामञ्जस्येन उपपद्येरन्। तस्मात् न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानम्।

१२. ब्रह्म और आत्मा का यह एकत्वज्ञान संपद्रूप नहीं है जैसे 'अनन्तं वै०' (मन अनन्त है, विश्वेदेव भी अनन्त हैं, (इस प्रकार उपासना करने वाला) अनन्तलोक जीतता है)। ब्रह्मदृष्टि अध्यासरूप भी नहीं है, जैसे 'मनो०' (मन परब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिये), 'आदित्यो०' (आदित्य ब्रह्म है ऐसा उपदेश है)। ना ही वह किसी विशिष्टक्रिया से तादात्म्य रूप है, जैसे कि 'वायुर्वाव संवर्गः०' (वायु ही संवर्ग है) 'प्राणो वाव०' (प्राण ही संवर्ग है)। आज्य के अवेक्षण आदि के समान कर्मांगसंस्काररूप भी नहीं है। क्योंकि ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान को सम्पदादिरूप मानें तो 'तत्त्वमसि' (वह तू है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि वाक्य जिनका तात्पर्य ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करना है, उनके पदों का अन्वय बाधित होगा। 'भिद्यते०' (हृदय की रागादि ग्रन्थियां टूट जाती हैं और सब संशय दूर हो जाते हैं) इत्यादि अज्ञाननिवृत्तिरूप फल के बोधक वाक्यों का बाध हो जायेगा। 'ब्रह्म वेद०' (जो ब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है) ऐसे वाक्य तो आत्मा का ब्रह्मभाव प्रतिपादन करते हैं, वे सम्पदादि पक्षों में उपपन्न नहीं होते हैं, इसलिए ब्रह्म और आत्मा का एकत्व विज्ञान संपदादिरूप नहीं है।

(१२.१) ब्रह्मात्मैक्य विज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, इतना कहने के बाद अब यह दिखा रहे हैं कि यह विज्ञान मानसिक कर्म भी नहीं है। मानसिक कर्म चार प्रकार के होते हैं:

Maha Parivrajaka

क. संपद्रूप:- अल्प मन और श्रेष्ठ विश्वेदेवताओं में अनंतत्वरूपी सादृश्य को लेकर मन को विश्वेदेवता मानकर उपासना करना संपद्रूप मानसिक कर्म है।

ख. अध्यासरूप:- मन, आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि रखना अध्यासरूप मानसिक कर्म है। यह मिथ्याज्ञान नहीं है। यहाँ अन्तर को जानते हुए भी शास्त्राधारब्रह्मदृष्टि से उनका ध्यान होता है।

ग. क्रियायोगरूप:–सुषुप्ति में अध्यात्म वागादि प्राण में, और प्रलय में आधिदैविक अग्नि आदि वायु में संवर्ग, यानी लीन हो जाते हैं। इस विशिष्टक्रिया के सादृश्य से प्राण और वायु को एक समझना क्रियायोगरूप मानसिक कर्म है।

घ. संस्काररूप:–यज्ञ में उपयोग होने वाले घी का जैसे पत्नी वीक्षण करती है, ऐसी कर्मांग संस्काररूप क्रिया।

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञान इनमें से कोई नहीं है, क्योंकि इन चारों में ही द्वैत है। संपद्रूप में अल्पता–श्रेष्ठता है, अध्यास में अतस्मिन् तद्बुद्धि है, क्रियायोगरूप में बाकियों की तरह ज्ञातृ–ज्ञेय विभाग है और संस्काररूप का मानसिक कर्म में होने का संस्कार है। इस द्वैत का ब्रह्मात्मैकत्ववाक्यों के पदों से समन्वय नहीं होता; इसलिये, ब्रह्मत्मैकत्वविज्ञान संपदादिरूप मानसिक क्रिया नहीं हो सकता।

१३. अतः न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि, प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयवस्तु-ज्ञानवत् वस्तुतन्त्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणः तज्ज्ञानस्य च न कयाचित् युक्त्या शक्यः कार्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्। न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः। ''अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'' (के. १.४) इति विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात्, ''येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'' (बृ. २.४.१४) इति च। तथा उपास्ति क्रिया-कर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति यद्वाचाऽनुभ्युदितं येन वागभ्युद्यते (के. १.५) इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य ''तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते'' (के. १.५) इति। अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरिति चेत्। न। अविद्याकल्पित-भेदनिवृत्तिपरत्वात् शास्त्रस्य। न हि शास्त्रम् इदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति। किं तर्हि, प्रत्यगात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयत् अविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृवेदनादि भेदमपनयति। तथा च शास्त्रम् ''यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्'' (के. २.३), ''न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः'' (बृ. ३.४.२) इति चैवमादि। अतः अविद्याकल्पितसंसारित्व-निवर्तनेन-नित्यमुक्त-आत्मस्वरूप-समर्पणात् न मोक्षस्य अनित्यत्व दोषः।

Maha Parivrajaka

१३. इस कारण ब्रह्मविद्या पुरुषव्यापार के अधीन नहीं है। किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय वस्तु के ज्ञान के समान वस्तु के ही अधीन है। ऐसे ब्रह्म और उसके ज्ञान की किसी भी युक्ति से कार्य के साथ सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती। 'विदि' (जानना) क्रिया के कर्मरूप से भी कार्य के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि 'अन्यदेव०' (वह जाने हुए से अन्य और न जाने हुए से अन्य है) और 'येनेदं०' (जिस (आत्मा) से इस सारे प्रपञ्च को लोक जानते हैं, उसको किस साधन से जानें) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म विदिक्रिया का कर्म नहीं है ऐसा प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार उपासनाक्रिया के कर्मरूप से भी ब्रह्म में कार्यसम्बन्ध का प्रतिषेध होता है–'यद्वाचा०' (जो वाणी से अनुक्त है (अर्थात् वागिन्द्रिय का विषय नहीं है) और जिससे वाणी प्रेरित होती है) इस प्रकार ब्रह्म इन्द्रियों का अविषय है, यह कह कर 'तदेव०' (उसी को तू ब्रह्म जान, उसको नहीं, जिसकी इदं-इस प्रकार से उपासना करते हैं) ऐसा कहा है। यदि ब्रह्म विषय न हो तो ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक कहना अयुक्त होगा ऐसी शंका की तो? नहीं है, क्योंकि अविद्या से कल्पित भेद की निवृत्ति करना ही शास्त्र का प्रयोजन है। शास्त्र ब्रह्म का 'इदं' इस प्रकार ज्ञानविषयत्वरूप से प्रतिपादन करना नहीं चाहता, किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्मा होने के कारण अविषय है ऐसा प्रतिपादन करता हुआ वेद्य (जानने योग्य वस्तु) वेदितृ (जाननेवाला), वेदना (ज्ञान) इत्यादि अविद्यासे कल्पित भेदों को दूर करता है। इसमें प्रमाणवाक्य–'यस्यामतं०' (जिसने नहीं जाना है, उसके लिये जाना गया है, जिसके द्वारा जाना गया है, उसके लिये नहीं जाना गया है, क्योंकि जिनको ब्रह्मज्ञान हो गया है, उनके लिए ब्रह्म अविदित–अर्थात् विषयरूप से अविदित है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है और जो अज्ञानी हैं, उनके लिए ब्रह्म विषयरूप से विदित है, क्योंकि वे ब्रह्म को ज्ञानविषय समझ कर मैंने ब्रह्म को जान लिया ऐसा कहते हैं) और 'न दृष्टे०' (दृष्टि–इन्द्रियवृत्ति के साक्षी को तू देख नहीं सकेगा और बुद्धिवृत्ति के साक्षी को तू नहीं जान सकेगा) इत्यादि हैं। अत: अविद्या से कल्पित संसारित्व की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होने से नित्यमुक्त आत्मा का यथार्थ स्वरूपज्ञान होने के कारण मोक्ष में अनित्यत्व दोष नहीं आता।

(१३.१) इससे पहले कहा हुआ संपदूपादि मानसिकव्यापार पुरुषतन्त्र है। परन्तु ब्रह्मविद्या ऐसी नहीं है; वह वस्तुतन्त्र है–वस्तु के अधीन है। अर्थात्, वस्तु जैसी है वैसा ही उसे समझना है, घट को घट समझने के समान। 'समझना तो बुद्धिक्रिया है न?' ब्रह्मविषय में वह भी नहीं, क्योंकि 'वह जाने हुये से भिन्न ही है और न जाने हुये से भी परे ही है' (केन १.३)। वह बुद्धि का विषय ही नहीं है। ज्ञाता का स्वरूप ही ब्रह्म होने से उसके विषय में ज्ञानक्रिया नहीं रह सकती। केनोपनिषद यह स्पष्ट कहता है कि वह उपासना का भी विषय नहीं है।

प्रश्नः यदि वह समझने का विषय नहीं है तो पीछे ब्रह्म को शास्त्रप्रमाणक कैसे कहा?

उत्तरः शास्त्र भी ब्रह्म को सीधा नही समझा सकता। शास्त्र तो केवल वह जो नहीं है उसको देखने वाले को 'वह जिस को देख रहा है वह ब्रह्म नहीं है' इतना ही समझा सकता है। इसी प्रमाण से हमें ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी है। ब्रह्मात्मैकत्व जिसमें नहीं है वही 'जिसमें वह नहीं है' उसमें 'उसे' देखता है (अतस्मिन् तद् बुद्धि)। इसमें वेद्य-वेदितृ-वेदन भेद है। इसलिये, यह भेद अविद्याकल्पित है। शास्त्र केवल इसकी निवृत्ति के लिये ही प्रवृत्त है। इस प्रकार नित्यमुक्त आत्मा का स्वरूप जानना ही मोक्ष होने से वह अनित्य नहीं, नित्य ही है।

(१३.२) यहाँ हमें ***'अविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदम् अपनयति'*** इस वाक्य पर ध्यान देना है। वेद्य-वेदितृ-वेदन इन तीनों में एक भी अविद्याकल्पित नहीं है। अज्ञानी उनमें जो भेद देखता है वह भेद अविद्याकल्पित है, क्योंकि वह विकारमात्र को पहचानकर भेद को देखता और भेद को ही समझता भी है। ज्ञानी भेद देखने पर भी परमार्थदृष्टि से एकत्व को समझता है। ***'बाह्याकार भेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्'***—बाह्य नानाकार भेदबुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूप का आश्रय लेने में कारण है (गी.भा. १८.५०)

१४. यस्य तु उत्पाद्यो मोक्षः तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्यमपेक्षते इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च। तयोः पक्षयोः मोक्षस्य ध्रुवम् अनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यम् उत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके। न च आप्यत्वेनापि कार्यापेक्षा। स्वात्मरूपत्वे सति अनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वम्। सर्वगतत्वेन नित्याप्त-स्वरूपत्वात् सर्वेण ब्रह्मणः आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः येन व्यापारम् अपेक्षेत। संस्कारो हि नाम संस्कारस्य गुणाधानेन वा स्यात्, दोषापनयनेन वा। न तावत् गुणाधानेन संभवति, अनाधेय अतिशय ब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वात् मोक्षस्य।

१४. जिसके मत में मोक्ष उत्पाद्य है, वह मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं की अपेक्षा रखता है यह युक्त है। इसी प्रकार जिसके मत में मोक्ष विकार्य है, उसके मत में भी। इन दोनों पक्षों में मोक्ष की अनित्यता निश्चित है। लोक में विकृत होने वाले दही आदि, या उत्पन्न होने वाले घट आदि नित्य देखने में नहीं आते। और जिस मत में ब्रह्म प्राप्य है, उस मत में भी उसको कार्य (कर्म) की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि वह स्वात्मरूप होने के कारण प्राप्य ही नहीं है। यदि आत्मा से अतिरिक्त मानें तो भी ब्रह्म प्राप्य नहीं है, क्योंकि ब्रह्म आकाश के समान सर्वत्र

व्यापक होने के कारण सबको नित्यप्राप्त है। और मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है कि वह व्यापार की अपेक्षा करे। संस्कार्य पदार्थ में गुण मिलाने से अथवा दोष दूर करने से संस्कार होता है। (मोक्ष में) गुण मिलाने से संस्कार होना संभव नहीं है, क्योंकि वह तो जिसमें अतिशय न किया जा सके ऐसे ब्रह्म का स्वरूपभूत है। दोष दूर करने से भी उसका संस्कृत होना असम्भव है, क्योंकि मोक्ष नित्यशुद्ध ब्रह्म का स्वरूपभूत है।

(१४.१) कर्मफल चतुर्विध होता है:–उत्पाद्य, विकार्य, आप्य और संस्कार्य। मोक्ष इनमें से कोई भी नहीं है।

उत्पाद्यः घट के समान उत्पन्न होने वाला। मोक्ष यदि इस प्रकार उत्पन्न होने वाला होता तो वह पहले नहीं रहता, और कुछ समय के बाद नाश को भी प्राप्त हो जाता। ऐसा होने पर वह अनित्य होगा। नित्य होने के कारण मोक्ष उत्पाद्य नहीं हो सकता।

विकार्यः जैसे दूध दही होकर, बदलकर प्रकट होता है। मीमांसकों के अनुसार, कर्मोपासना तथाकथित अपूर्वरूप में परिणामित होकर कर्मफल के रूप में प्रकट होती है। ऐसा मोक्ष भी अनित्य ही होगा।

आप्यः स्वर्गादि के समान और कहीं जाकर प्राप्त होने वाला कर्मफल। मोक्ष अपना स्वरूप ही होने से आप्य नही है। इतना ही नही, स्वरूप से अलग होने पर भी आप्य नहीं होगा क्योंकि ब्रह्मरूप मोक्ष सर्वव्यापक है।

संस्कार्यः अनुपस्थित गुणों को जोड़ने, या उपस्थित दोषों को निकालने रूपी कर्मों से प्राप्त होनेवाला। ब्रह्म अतिशयस्वरूप होने के कारण उसमें कुछ भी नया गुण जोड़ना संभव नहीं है, और निर्दोष होने के कारण कुछ निकालना भी संभव नही है। इसलिये, मोक्ष संस्कार्य भी नही है।

आगे संस्कार्यत्व निराकरण का और दीर्घ विश्लेषण करते है:–

१५. स्वात्मधर्म एव सन् तिरोभूतो मोक्षः क्रियया आत्मनि संस्क्रियमाणे अभि-व्यज्यते। यथा आदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्मः इति चेत्? न। क्रियाश्रयत्व अनुपपत्तेः आत्मनः। यदाश्रया क्रिया तम् अविकुर्वती नैव आत्मानं लभते। यदि आत्मा क्रियया विक्रियेत, अनित्यत्वम् आत्मनः प्रसज्येत। ''अविकार्योऽयमुच्यते'' (गी. २.२५) इति चैवमादीनि वाक्यानि बाध्येरन्। तच्च अनिष्टम्। तस्मात् न स्वाश्रया क्रिया आत्मनः संभवति। अन्याश्रयायास्तु क्रियायाः अविषयत्वात् न तया आत्मा संस्क्रियते। ननु देहाश्रयया स्नान-आचमन-यज्ञोपवीतादिकया क्रियया देही संस्क्रियमाणो दृष्टः? न। देहादि संहतस्यैव अविद्यागृहीतस्य आत्मनः संस्क्रियमाणत्वात्। प्रत्यक्षं हि स्नानाचमनादेः

देहसमवायित्वम्। तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चित् अविद्यया आत्मत्वेन परिगृहीतः संस्क्रियते इति युक्तम्। यथा देहाश्रयचिकित्सानिमित्तेन धातुसाम्येन तत्संहतस्य तदभि-मानिन आरोग्यफलम् ''अहमरोगः'' इति यत्र बुद्धिरुत्पद्यते। एवं स्नान-आचमन-यज्ञोपवीतादिना अहं शुद्धः संस्कृतः इति यत्र बुद्धिः उत्पद्यते स संस्क्रियते। स च देहेन संहत एव। तेनैव हि अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते। तत्फलं च स एव अश्नाति। ''तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति'' (मुं. ३.१.१) इतिमन्त्रवर्णात्, ''आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'' (क. १.३.४) इति च। तथा च ''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा, कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'' (श्वे. ६.११) इति। ''स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणम् अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्'' (ई. ८) इति चैतौ मन्त्रौ अनाधेय अतिशयतां नित्यशुद्धतां च ब्रह्मणो दर्शयतः। ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्मात् न संस्कार्योऽपि मोक्षः। अतोऽन्यन् मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेश-द्वारं न शक्यं केनचित् दर्शयितुम्। तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गंधमात्रस्यापि अनुप्रवेशः इह नोपपद्यते।

१५. जैसे निघर्षण क्रिया से साफ होकर दर्पण का तिरोहित भास्वरत्व प्रकट होता है, उसी प्रकार क्रिया से आत्मा में संस्कार होने से उसका तिरोहित धर्म मोक्ष प्रकट हो सकता है न? न। आत्मा को क्रिया का आश्रय मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः जिस आश्रय में क्रिया रहती है, उसको विकृत किये बिना स्वयं रह नहीं सकती। यदि आत्मा क्रिया से विकार को प्राप्त होता हो तो अनित्य हो जायेगा। 'अविकार्यो०' (यह आत्मा अविकारी है) इत्यादि वाक्यों का बाध होगा। यह इष्ट नहीं है। इसलिये, आत्मा का आश्रय लेकर क्रिया का रहना सम्भव नहीं है। दूसरे का आश्रय करके रहने वाली क्रिया का आत्मा विषय नहीं है अर्थात् सम्बन्धी नहीं है, अतः उस क्रिया से आत्मा का संस्कार नहीं हो सकता। देह में होनेवाली स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रियाओं से देही (आत्मा) का संस्कृत होना देखने में आता है न? नहीं। देह आदि से जुड़े हुए अविद्यावान् को ही संस्कार होता है। स्नान, आचमन आदि क्रियाओं का देह के साथ संबन्ध प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार कहना युक्त है कि अविद्या से देह को स्वयं मानने वाला ही उस देहाश्रय क्रिया से संस्कृत होता है। जैसे, देहाश्रित चिकित्सानिमित्त से होने वाले धातुसाम्य के द्वारा, उस देह से सम्बद्ध और देह में 'मैं' अभिमान रखने वाले को 'मैं अरोग हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार स्नान, आचमन, यज्ञोपवीत आदि से 'मैं शुद्ध हूँ, संस्कृत हूँ' ऐसी बुद्धि जिसमें उत्पन्न होती है, उसी का

संस्कार होता है। वह तो देह के साथ संबद्ध ही है। अहंप्रत्यय के लिए विषय और प्रत्ययों का आश्रय हुए उस अहंकर्तु से ही सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल भी वही भोगता है। इसका प्रमाण है–'तयोरन्यः०' (उनमें एक स्वादिष्ट कर्मफल भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ देखता रहता है) 'आत्मेन्द्रिय०' (शरीर, इन्द्रिय और मन से युक्त जीवात्मा को विद्वान् लोग भोक्ता कहते हैं) इत्यादि वाक्य हैं। इसी प्रकार 'एको देवः०' (सब भूतों में रहने वाला एक ही देव, सर्वव्यापक, सब प्राणियों का अन्तरात्मा, कर्मों का अध्यक्ष, सब भूतों का आधार साक्षी, चेतन, एकाकी, निर्गुण है) 'सपर्यगात्०' (वह आत्मा सर्वव्यापक, दीप्तिमान, कायरहित, व्रणरहित और पाप से अस्पृष्ट है) ये दोनों मंत्र दिखलाते हैं कि ब्रह्म में किसी तरह के अतिशय का प्रवेश नहीं हो सकता है और वह नित्यशुद्ध है। मोक्ष तो ब्रह्मभाव ही है, अतः वह संस्कार्य भी नहीं है। मोक्ष में इन चारों से भिन्न क्रियासम्बन्ध का मार्ग कोई नहीं दिखा सकता। इसलिये, मोक्ष में ज्ञान के सिवा क्रिया के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं बनता।

(१५.१) प्रश्नः गुणों को जोड़ना या दोषों को हटाना मात्र ही संस्कार नहीं होता। निघर्षण से (रगड़–रगड़ कर) बनाये दर्पण के समान संस्कृत आत्मा में क्या मोक्ष प्रकट नही हो सकता?

उत्तरः निघर्षण से दर्पण बदलता है; इस प्रकार कर्म से संस्कृत होने वाला आत्मा बदलने से अनित्य ही होगा।[१]

संशयः पोंछने से जो दर्पण में चमक आती है वैसा आत्मा का संस्कार हो तो?

उत्तरः वह संस्कार दर्पण का नही होगा। इसी प्रकार जिसमें देहाध्यास है स्नान, आचमन आदि संस्कार उसी के लिये हैं। यही प्राज्ञ है जो अहंप्रत्यय के लिये विषय है और सारे प्रत्ययों का साक्षी है। वही जाग्रत् और स्वप्न में सोपाधिक होकर कर्म करनेवाला और फलभोगने वाला है। लेकिन जो उसका भी साक्षी है, वह आत्मा संस्कार्य नही है। असल में तो प्राज्ञ भी संस्कार्य नही है; परन्तु उसको ज्ञान नहीं है कि वह स्वयं आत्मा ही है। इस अज्ञान के कारण वह संस्कार से संस्कृत हुआ सा दिखता है। यह अविद्या ही मोक्ष की प्रतिबन्धक है। यह किसी संस्कार से नष्ट नहीं होती। केवल विद्या से ही उसका नाश होता है।[२]

१६. ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया? न, वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुष चित्तव्यापाराधीना च। यथा ''यस्यै देवतायै हविः गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट्करिष्यन्'' (ऐ. ब्रा. ३.१.८), ''सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्'' इति

१. प्राचीन काल में धातु को रगड़–रगड़ कर दर्पण बनाये जाते थे। जितना अधिक रगड़ा जाता था उतना ही स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त होता था।
२. यहाँ दर्पण के ऊपर जो धूल पड़ जाती है उसको साफ करने की प्रक्रिया कही जा रही है।

Maha Parivrajaka

चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुं शक्यम्। पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्। प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतः ज्ञानं कर्तुमकर्तुम् अन्यथा वा कर्तुमशक्यम्। केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्, नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मात् मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। यथा च ''पुरुषो वाव गौतमाग्निः'' (छां. ५.७.१) ''योषा वाव गौतमाग्निः'' (छां. ५.८.१) इत्यत्र योषित्पुरुषयोः अग्निबुद्धिर्मानसी भवति। केवल चोदनाजन्यत्वात् क्रियैव सा पुरुषतन्त्रा च। या तु प्रसिद्धे अग्नौ अग्निबुद्धिः, न सा चोदनातन्त्रा नापि पुरुषतन्त्रा किं तर्हि, प्रत्यक्षविषयवस्तुतन्त्रैव इति ज्ञानमेवैतत्, न क्रिया। एवं सर्वप्रमाण-विषय-वस्तुषु वेदितव्यम्। तत्रैवं सति यथाभूत ब्रह्मात्मविषयमपि ज्ञानं न चोदनातन्त्रम्। तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्य-विषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्। अहेय-अनुपादेय वस्तुविषयत्वात्।

१६. ज्ञान मन की क्रिया ही है न? नहीं। क्योंकि क्रिया से विलक्षण है। क्रिया उसको कहते हैं जिसका वस्तुस्वरूप की अपेक्षाके बिना ही विधान किया जाता है और जो पुरुष के सङ्कल्प के अधीन है। जैसे कि–'यस्यै देवतायै०' (जिस देवता के लिए (अध्वर्यु ने) हवि का ग्रहण किया हो, उस देवता का (होता) वषट्कार करता हुआ ध्यान करे) 'सन्ध्यां०' (सन्ध्या का मन से ध्यान करे) इनमें और इसी प्रकार अन्य स्थलों में (क्रिया का विधान है।) ध्यान अर्थात् चिन्तन यद्यपि मानसिक है, तो भी पुरुष के अधीन होने के कारण वह करने न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है। प्रमाण वस्तु जैसी है वैसा ही उसे विषय करने वाला होता है। इसलिए ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं हो सकता, वह केवल वस्तु के अधीन है। विधि के योग्य नहीं है और पुरुष के अधीन भी नहीं है। अतः ज्ञान के मानसिक होने पर भी ध्यान से उसका बड़ा भेद है। जैसे 'पुरुषो०' (हे गौतम! पुरुष अग्नि है) ' योषा०' (हे गौतम, स्त्री अग्नि है) इनमें स्त्री और पुरुष में अग्निबुद्धि मानसिक है। वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है और पुरुष के अधीन है। लेकिन प्रसिद्ध अग्नि में जो अग्निबुद्धि होती है, वह न तो विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन है; किन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तु (अग्नि) के अधीन है, अतः वह ज्ञान ही है, क्रिया नहीं है। इसी प्रकार सब प्रमाणों के (अर्थात् अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों के) विषय में समझना चाहिए। इसलिये यथाभूत–जैसा है वैसा समझने का ब्रह्मात्मविषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है। यद्यपि ज्ञान

Maha Parivrajaka

के बारे में लिङ् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं, तो भी नियोग के अयोग्य होने के कारण पत्थर आदि में प्रयुक्त अस्त्र की धार के समान कुण्ठित हो जाते हैं, क्योंकि ब्रह्म न हेय है न उपादेय है।

(१६.१) इस परिच्छेद में दिखा रहे हैं कि ज्ञान मानसी क्रिया नहीं है। क्योंकि क्रिया का विधान वस्तुस्वरूप की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष ही होता है, क्रिया चित्तव्यापाराधीन होती है। दृष्टान्त के लिये:- 'मन में देवता का ध्यान करते हुये, होता जैसे ही वषट्कार करे वैसे ही अध्वर्यु हविस अर्पण करें', इस वाक्य में कहा हुआ ध्यान पुरुषतन्त्र है।

संशय : इसी वाक्य को उद्धृत करके भाष्यकार ने ***'विधिभिः एव इन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिः अपेक्षितम् इन्द्रादीनां स्वरूपम्। नहि स्वरूपरहिताः इन्द्रादयः चेतसि आरोपयितुं शक्यन्ते'***–इन्द्र आदि देवताओं को हवि देने की प्रेरणा करने वाली विधियाँ ही इन्द्रादि के स्वरूप की अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्रादि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हो तो उनका ध्यान ही नहीं किया जा सकता (सू. भा. १.३.३३), ऐसा कहा है। यहाँ देवतास्वरूपसदृश वृत्ति ही बुद्धि में ले आने के कारण यह ज्ञान ही हुआ न? इसलिए यह वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष कैसे हो सकता है? ज्ञान है तो विधि कैसे होगा?

उत्तर: ऊपर कहे हुये ध्यान में देवतास्वरूपसदृश को ही कहने पर भी, ध्यान वस्तुस्वरूपसदृश भी हो सकता है और असदृश भी हो सकता है। उदाहरण के लिये, अध्यासरूप ध्यान वस्तुस्वरूप-असदृश ही होता है। यहां कथित वस्तुस्वरूपनिरपेक्ष ध्यानविधि का यही अर्थ है। यह ध्यान ज्ञान नहीं है। क्यों ज्ञान नहीं है? देवता को यदि प्रत्यक्ष देख रहे हो तो वह ज्ञान पुरुषतन्त्र नहीं है। परन्तु अप्रत्यक्ष देवतास्वरूप को स्मरण करने की ध्यानक्रिया तो पुरुषतन्त्र है।

संशय: घटप्रत्यय विक्रिया ही है। इसलिये, घट को जानना भी क्रिया ही है, यदि ऐसा कहें तो?

उत्तर: नहीं। क्योंकि इसमें ज्ञाता का प्रयत्न कुछ भी नहीं है। विषय-इन्द्रियसन्निकर्ष के समय जो विषयसदृश बुद्धिप्रत्यय होता है वह क्षेत्रधर्म है। इसको जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। जानना क्षेत्रज्ञ की क्रिया नहीं है, उसका स्वभाव है।

संशय: प्रत्यक्ष विषय का ज्ञान क्रिया न होने दो। परन्तु अन्य प्रमाणों से अप्रत्यक्ष विषयों को जानते समय तो पुरुष का प्रयत्न आवश्यक दिखता है।

उत्तर: ऐसा नहीं है। कोई भी प्रमाण हो, प्रमाणजन्य ज्ञान तो सम्यग्ज्ञान ही होता है। वह पुरुषतन्त्र नहीं होता। परन्तु अप्रत्यक्ष विषयों को समझते समय सम्यग्ज्ञान में विघ्न डालने वाले संशयों को हटाने के लिये पुरुषप्रयत्न चाहिये। लेकिन इस प्रयत्न से ही ज्ञानप्राप्ति हो रही है कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रयत्न का कर्म ज्ञान नहीं, बल्कि संशयनिवारण है। प्रमाण की भूमिका को अलग करके न जानने के कारण ही लोग कहते हैं कि प्रयत्न से ही ज्ञान प्राप्ति होती है, जैसे पकाने के कर्म से भोजन। यह ठीक नहीं है। 'प्राज्ञ

ही ज्ञाता है, और वह निरुपाधिक है' यह स्मरण रखने पर, किसी भी प्रमाण से होनेवाला ज्ञान उसकी (प्राज्ञ की) क्रिया नहीं हो सकता, यह सरलता से समझ आ जायेगा। इसलिये, श्रुतिप्रमाण का विषय ब्रह्मैकत्वज्ञान भी पुरुषतन्त्र नहीं है और चोदनातन्त्र भी नहीं है।

१७. किमर्थानि तर्हि ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'' (बृ. २.४.५) इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि? स्वाभाविक-प्रवृत्तिविषय-विमुखीकरणार्थानि इति ब्रूमः। योहि बहिर्मुखः प्रवर्तते पुरुषः इष्टं मे भूयात्, अनिष्टं मा भूदिति, न च तत्र आत्यन्तिकं पुरुषार्थं लभते, तम् आत्यन्तिकपुरुषार्थवाञ्छिनं स्वाभाविक-कार्यकरणसंघातप्रवृत्ति-गोचरात् विमुखीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोतस्तया प्रवर्तयन्ति ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः'' इत्यादीनि। तस्य आत्मान्वेषणाय प्रवृत्तस्य अहेयमनुपादेयं च आत्मतत्त्वम् उपदिश्यते ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृ. २.४.६), ''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्'', ''विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'' (बृ. ४.५.१५), ''अयमात्मा ब्रह्म'' (बृ. २.५.१) इत्यादिभिः।

१७. तब 'आत्मा वा०' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए) इत्यादि विधि-से वाक्यों का क्या अर्थ है? विषयों में मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उससे उसको पराङ्मुख करना ही इनका प्रयोजन है। जो पुरुष बाह्य विषयों में 'इष्ट वस्तु मुझे प्राप्त हो, अनिष्ट प्राप्त न हो' इस प्रकार बहिर्मुख होकर प्रवृत्त होता है, उस (प्रवृत्ति) से परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकता, उस परम पुरुषार्थ की इच्छा करने वाले को 'आत्मा वा०' (आत्मा का दर्शन करना चाहिए) इत्यादि वाक्य शरीर और इन्द्रियसमूह की स्वाभाविक प्रवृत्ति के विषय (शब्द आदि) से निवृत्त करके उसकी चित्तवृत्ति के प्रवाह को प्रत्यगात्मा की तरफ जैसे हो सके वैसे प्रवृत्त कराते हैं। आत्मस्वरूप के अन्वेषण में प्रवृत्त हुए उस पुरुष को 'इदं सर्वं०' (यह जो कुछ है सब आत्मस्वरूप है) 'यत्र त्वस्य०' (परन्तु जब उसके लिए सब आत्मरूप हो गया, तब वह किस साधन से किसको देखे और किससे किसको जाने) 'विज्ञातार०' (जो जाननेवाला है, उसको किससे जाना जाय) 'अयमात्मा०' (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियां अहेय और अनुपादेय आत्मतत्त्व का उपदेश करती हैं।

(१७.१) विधिच्छायानिः कुर्यात्-करना; क्रियेत-करो; कर्तव्यम्-करने योग्य। ये क्रम से लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय विधि अर्थ में हैं। द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यासितव्य-दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये। इनमें तव्य प्रत्यय विधि अर्थ में होने

MahaParivrajaka

पर भी आत्मा के विषय में उपयोग करते समय विधि अर्थ में नहीं हो सकता। इसीलिये, 'विधि-सा' कहा है। इनका उद्देश्य क्या है? सुखप्राप्ति और दु:खनिवारण के लिये मनुष्य स्वाभाविक प्रयत्न करते हुये बहिर्मुख रहता है। आत्यन्तिक पुरुषार्थ चाहने वाला मुमुक्षु यह जानता है कि सुख बाहर नहीं मिलता। फिर भी, आत्मान्वेषण में व्यस्त होने पर भी, वासनाबल से उसका मन बाहर जाता ही है, जिससे उसके शरीरादि प्रवृत्त होते रहते हैं। उन विषयों से प्रत्यङ्मुख करके उसे आत्मा की ओर मोड़ना है। यह आत्मा कौन है? जो यह सब कुछ है वही आत्मा है। अत:, इस सर्वात्मा को स्वयं समझने से मन का बाह्यसंचार रुक जाता है। इस आत्मा की ओर चित्तवृत्ति का प्रवाह मोड़ने के लिये ही श्रुति इन वचनों को कहती है। इस विषय की शेष चर्चा आखिरी परिच्छेद में की जायगी।

१८. यदपि अकर्तव्यप्रधानम् आत्मज्ञानं हानाय उपादानाय वा न भवति इति, तत् तथैव अभ्युपगम्यते। अलंकारो ह्ययम् अस्माकं यत् ब्रह्मात्मावगतौ सत्यां सर्वकर्तव्यता हानिः कृतकृत्यता च इति। तथा च श्रुतिः ''आत्मानं चेद्विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः, किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्'' (बृ. ४.४.१२) इति। ''एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत'' (गी. १५.२०) इति स्मृतिः। तस्मात् न प्रतिपत्ति-विधिविषयतया ब्रह्मणः समर्पणम्।

१८. (और जो यह आक्षेप है कि) कर्तव्यरहित आत्मज्ञान में कुछ भी त्यागना या स्वीकारना नहीं है, हम भी उसका अंगीकार करते हैं। ब्रह्म और प्रत्यगात्मा के ऐक्यज्ञान होने पर सब कर्तव्य कर्म नष्ट हो जाते हैं, और कृतार्थता हो जाती है यह कथन हम वेदान्तियों के लिए भूषण है। इस विषय में 'आत्मानं०' (यह आत्मा 'मैं हूँ' ऐसा जो पुरुष जान लेता है, वह किस फल की इच्छा से और किसके भोग के लिए सन्तप्त होता हुआ शरीर के पीछे स्वयं सन्तप्त हो) यह श्रुति और 'एतद् बुद्ध्वा०' (हे अर्जुन! इस गुह्यतम तत्त्व को जानकर पुरुष ज्ञानी और कृतार्थ हो जाता है) यह स्मृति प्रमाण है। इस कारण वेदान्त उपासनाविधि के विषयत्वरूप से ब्रह्म का बोध नहीं कराते हैं।

(१८.१) 'ब्रह्मात्मभाव हानोपादान रहित है', यह कहना सिद्धान्त का दूषण नहीं भूषण है। मनुष्य के आनन्द से लेकर ब्रह्माजी के आनन्द तक सबका आनन्द जिस आनन्द का अंश है, वह आनन्द ही अपना हो जाने के बाद हानोपादान कैसे रह सकते हैं? 'इस स्वरूपानन्द से परे कोई आनन्द नहीं', यह सूचना तो हमे सुषुप्ति में मिल ही रही है–'एषः अस्य परम आनन्दः' (बृ. ४.३.३२)। क्योंकि ऐसा है, इसीलिये ब्रह्मात्मभावप्राप्ति से कृतकृत्य हुये मनुष्य का कर्मोपासनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

१९. यदपि केचिदाहुः प्रवृत्तिनिवृत्तिविधितच्छेषव्यतिरेकेण केवल वस्तुभागो

नास्तीति, तन्न। औपनिषदस्य पुरुषस्य अनन्यशेषत्वात्। योऽसौ उपनिषत्स्वेव अधिगतः पुरुषः असंसारी ब्रह्म उत्पाद्यादि-चतुर्विध-द्रव्यविलक्षणः स्वप्रकरणस्थः अनन्यशेषः नासौ नास्ति नाधिगम्यते इति वा शक्यं वदितुम्। ''स एष नेति नेत्यात्मा'' (बृ. ३.९.२६) इति आत्मशब्दात्। आत्मनश्च प्रत्याख्यातुं अशक्यत्वात्। य एष निराकर्ता तस्यैव आत्मत्वात्। ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्स्वेव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न, तत्साक्षित्वेन प्रत्युक्तत्वात्। न हि अहंप्रत्यय विषयकर्तृव्यतिरेकेण तत्साक्षी सर्वभूतस्थः समः एकः कूटस्थनित्यः पुरुषः विधिकांडे तर्कसमये वा केनचित् अधिगतः सर्वस्य आत्मा। अतः स न केनचित् प्रत्याख्यातुं शक्यः विधिशेषत्वं वा नेतुम्। आत्मत्वादेव च सर्वेषां न हेयः नापि उपादेयः। सर्वं हि विनश्यत विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति। पुरुषो विनाशहेत्वभावात् अविनाशी। विक्रियाहेत्वभावाच्च कूटस्थनित्यः, अत एव नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः। तस्मात् ''पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः'' (क. १.३.११), ''तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'' (बृ. ३.९.२६) इति च औपनिषदत्वविशेषणं पुरुषस्य उपनिषत्सु प्राधान्येन प्रकाश्यमानत्वे उपपद्यते। अतः भूतवस्तुपरो वेदभागो नास्तीति वचनं साहसमात्रम्।

१९. कोई जो यह कहते हैं कि प्रवृत्तिविधि, निवृत्तिविधि और उनके अङ्ग से अतिरिक्त केवल वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वेदभाग नहीं है, उनका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपनिषद् से ज्ञेय पुरुष अन्य का शेष नहीं होता। केवल उपनिषदों से ही ज्ञात जो असंसारी पुरुष (ब्रह्म) है, वह उत्पाद्य आदि चार प्रकार के द्रव्यों से विलक्षण है और अपने ही प्रकरण में स्थित है, अन्यशेष नहीं है–वह नहीं है अथवा नहीं जाना जाता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'स एष०' (यह नहीं, यह नहीं, इस प्रकार जो आत्मा उपदिष्ट है, वह यह है) इस श्रुति में आत्मशब्द है, अतः आत्मा का निषेध नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो निषेध करने वाला है, वही आत्मा है। (संशय): आत्मा 'मैं' इस प्रत्यय का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? ऐसा नहीं, क्योंकि बताया है कि आत्मा उसका साक्षी है। 'मैं' इस प्रत्यय का विषय जो कर्ता है, उससे भिन्न उसका साक्षी, सब भूतों में स्थित, सम, एक, कूटस्थ नित्य, पुरुष और सबका आत्मा कर्मकाण्ड में अथवा तर्कशास्त्र में किसी से जाना नहीं गया है। इसलिए उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता और न वह विधि का अङ्ग ही ठहराया जा सकता है। वह सबका आत्मा है, इससे वह न हेय है न उपादेय है। पुरुष को छोड़कर और सभी विकारी पदार्थ विनाशी

हैं । पुरुष तो अविनाशी है, क्योंकि उसका नाश नहीं है, कूटस्थ नित्य है, क्योंकि उसमें विकार का कोई कारण नहीं है और इसलिये ही नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध एवं नित्यमुक्त स्वभाव है। इस कारण 'पुरुषान्न परं०' (पुरुष से परे कुछ नहीं है, वह सबकी अवधि है, वही परम पुरुषार्थ है)। और 'तं त्वौप०' (उस उपनिषत्गम्य पुरुष को मैं आपसे पूछता हूँ) इस श्रुति में पुरुष का 'औपनिषदम्' यह विशेषण उपनिषदों से ही मुख्यतया पुरुष का ज्ञान मानने पर उपपन्न होता है। इसलिए, वेदभाग सिद्धवस्तु का प्रतिपादन नहीं करता है यह कथन साहसमात्र है।

(१९.१) कर्म से असम्बन्धित किसी विषय को वेद नहीं कहता, यह कथन ठीक नहीं है। उपनिषद ऐसे पुरुष का वर्णन करते हैं। 'कर्म से सम्बन्धित न होने के कारण उपनिषद ही उसको समझाते हैं' यह यहाँ सप्रमाण सिद्ध किया गया है।

'ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात्...' इस वाक्य की विमर्शा अध्यासभाष्य के व्याख्यान में की गयी है। (२५.१)

सन्देहः अभी तक प्रत्यगात्मा को 'अस्मत्प्रययगोचर'- अपरोक्ष होने के कारण प्रसिद्ध कहा गया है; फिर यहाँ एकदम से ***'उपनिषत्सु एव विज्ञायते'***-उपनिषदों में ही जाना जाता है कैसे कह दिया?

उत्तरः ऐसा नही है। शुरु से अस्मत्प्रत्ययगोचर कहकर समझाया हुआ प्रत्यगात्मा क्षेत्रज्ञ है। यह प्राज्ञ संस्कार को पा सकने वाला, कर्ता, भोक्ता होकर कर्मकाण्ड या तर्कशास्त्र में कहा हुआ प्रत्यगात्मा है। यह एक नहीं, हरेक क्षेत्र में अलग-अलग है। अभी बताया गया औपनिषद पुरुष सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी चेतन है; वह एक ही और निर्गुण है, ऐसा कह चुके हैं। इसलिये, भूतवस्तुपर वेदभाग नहीं है यह कहना ठीक नहीं है।

२०. यदपि शास्त्रतात्पर्यविदाम् अनुक्रमणम् ''दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्'' (शा. भा. १.१.१) इत्येवमादि, तत् धर्मजिज्ञासाविषयत्वात् विधिप्रतिषेधशास्त्राभिप्रायं द्रष्टव्यम्। अपि च ''आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम् अतदर्थानाम्'' (जै. सू. १.२.१) इत्येतत् एकान्तेन अभ्युपगच्छतां भूतोपदेश आनर्थक्य प्रसंगः। प्रवृत्तिनिवृत्तिविधिव्यतिरेकेण भूतं चेत् वस्तु उपदिशति भव्यार्थत्वेन, कूटस्थं नित्यं भूतं नोपदिशति इति को हेतुः? न हि भूतम् उपदिश्यमानं क्रिया भवति। अक्रियात्वेऽपि भूतस्य क्रियासाधनत्वात् क्रियार्थ एव भूतोपदेशः इति चेत्? नैष दोषः। क्रियार्थत्वेऽपि क्रियानिर्वर्तन शक्तिमद् वस्तु उपदिष्टमेव। क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। न च एतावता वस्तु अनुपदिष्टं भवति। यदि नाम उपदिष्टं किं तव तेन स्यादिति? उच्यते। अनवगत-आत्मवस्तूपदेशश्च तथैव

Maha Parivrajaka

भवितुमर्हति। तदवगत्या मिथ्याज्ञानस्य संसारहेतोः निवृत्तिः प्रयोजनं क्रियते इति अविशिष्टम् अर्थवत्त्वं क्रियासाधनवस्तूपदेशेन।

२०. शास्त्र का तात्पर्य जाननेवालों के 'दृष्टो हि०'–कर्म का बोध कराने में उनका उपयोग है– इत्यादि धर्मजिज्ञासा के विषय होने के कारण विधि–प्रतिषेध शास्त्र का अभिप्राय हैं–ऐसा समझना चाहिए। और 'आम्नायस्य'–वेद क्रियार्थक हैं, अतः अक्रियार्थक वाक्य अनर्थक हैं–इस न्याय को नियम माननेवालों के मत में (दधि, सोम इत्यादि) सिद्धवस्तुओं के उपदेशवाचक पद अनर्थक होंगे। यदि प्रवृत्तिविधि और निवृत्तिविधि से अतिरिक्त सिद्धवस्तु का भी, वह धर्म के लिए उपयोगी है इस कारण से शास्त्र उपदेश करता है, तो कूटस्थ नित्य सिद्धवस्तु का उपदेश क्यों नहीं करेगा? उपदिष्ट होनेवाली सिद्धवस्तु केवल उपदेश से ही क्रिया नहीं हो जाती। सिद्धवस्तु भले ही क्रिया न हो, किन्तु क्रिया के साधन होने के कारण उसका उपदेश क्रियार्थक ही है ऐसा कहा तो? यह दोष नहीं है, क्योंकि सिद्धवस्तु क्रियार्थक यद्यपि है, तो भी शास्त्र से केवल वस्तु का ही उपदेश होता है वह वस्तु वस्तुतः कार्योत्पादन शक्ति से युक्त होती है। क्रियार्थत्व तो उसका प्रयोजन है। यदि (दधि आदि) सिद्धपदार्थ को कार्यशेष मानें तो भी यह नहीं कह सकते कि वह पदार्थ (दधि आदि शब्द से) उपदिष्ट नहीं है। यदि सिद्धवस्तु का उपदेश होता भी हो, तो तुमको क्या लाभ होगा? (सिद्धान्ती) कहते हैं (दधि आदि पदार्थों की तरह) अज्ञात आत्मवस्तु का भी शास्त्र से उपदेश होना ठीक ही है। उसके ज्ञान से संसार के कारणभूत मिथ्याज्ञान का नाश होता है, इस कारण क्रिया के साधनवस्तु के उपदेश के समान आत्मवस्तु का उपदेश भी सार्थक है।

(२०.१) पिछले परिच्छेद में 'वेद भूतवस्तु का वर्णन करते ही नहीं है', यह आक्षेप तिरस्कृत हुआ। अब मीमांसकों की युक्तियों से ही यह दिखाते हैं कि क्रियासम्बन्धरहित वस्तु को भी वेद कह सकता है। क्रियानिराकरणवाक्य विधि–निषेधशास्त्र तक सीमित हैं। परन्तु वही वेदभाग भूतवस्तु को भी कहता है। ***'दध्ना जुहोतिः*** –दही से हवन करें', वाक्य में दही भूतवस्तु है। यूप, आहवनीय इत्यादि भी उसी प्रकार भूतवस्तु हैं। लोक के पद–पदार्थों का आश्रय लिये बिना अज्ञात विषयों को वेद भी नहीं समझा सकता। इसके ऊपर 'लेकिन इनको भी क्रिया के लिये ही तो समझाते हैं', ऐसा आक्षेप किया जाये तो उत्तर है: 'ठीक है, वर्णित वस्तु का प्रयोजन क्रिया होने पर भी भूतवस्तु को समझाता है यह अनिराकरणीय है।' इसलिये, किसी अप्रयोजक भूतवस्तूपदेश का निराकरण कर सकते हैं, सप्रयोजक वस्तूपदेश का नहीं।

प्रश्नः यदि ऐसा है तो क्रियासंबन्धरहित आत्मवस्तूपदेश का क्या प्रयोजन हो सकता है?

उत्तरः उसका प्रयोजन है संसार का हेतु जो मिथ्याज्ञान है उसकी निवृत्ति करना।

Maha Parivrajaka

२१. अपि च ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्येवमाद्या निवृत्तिः उपदिश्यते। न च सा क्रिया, नापि क्रियासाधनम्। अक्रियार्थानामुपदेशः अनर्थकश्चेत् ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्यादि निवृत्त्युपदेशानाम् आनर्थक्यं प्राप्तम्। तच्च अनिष्टम्। न च स्वभावप्राप्त-हन्त्यर्थ-अनुरागेण नञः शक्यम् अप्राप्तक्रियार्थत्वं कल्पयितुं हनन-क्रियानिवृत्ति-औदासीन्यव्यतिरेकेण। नञश्च एष स्वभावः यत् स्वसंबंधिनोऽभावं बोधयति इति। अभावबुद्धिश्च औदासीन्यकारणम्। सा च दग्धेन्धनाग्निवत् स्वयमेव उपशाम्यति। तस्मात् प्रसक्तक्रियानिवृत्ति-औदासीन्यमेव ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्यादिषु प्रतिषेधार्थं मन्यामहे अन्यत्र प्रजापतिव्रतादिभ्यः। तस्मात् पुरुषार्थ-अनुपयोगि-उपाख्यानादि-भूतार्थ-वादविषयम् आनर्थक्याभिधानं द्रष्टव्यम्।

२१. और 'ब्राह्मणो०' (ब्राह्मण का हनन नहीं करना चाहिए) इत्यादि निवृत्ति का उपदेश किया जाता है। वह न तो क्रिया है न क्रियासाधन है। यदि अक्रियार्थक वाक्यों का उपदेश अनर्थक हो, तो 'ब्राह्मणो का हनन नहीं करना' इत्यादि निवृत्ति का उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। उसका व्यर्थ होना इष्ट नहीं है। रागतः प्राप्त हननक्रिया के साथ सम्बन्ध होने से हननक्रिया से निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही नञ् का अर्थ है। इस अर्थ से भिन्न लक्षणा द्वारा अहनन संकल्प आदि अप्राप्त क्रियारूप नञ् के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने संबन्धीपदार्थ के अभाव का बोध कराना नञ् का स्वभाव है। अभावज्ञान औदासीन्य का कारण है। जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को जलाकर स्वयं बुझ जाती है, उसी प्रकार वह ज्ञान राग का नाश करके अपने आप शान्त हो जाता है। इस कारण प्रजापतिव्रत आदि को छोड़ कर 'ब्राह्मणों का हनन नहीं करना' इत्यादि स्थलों में प्रकरणप्राप्त क्रिया से निवृत्त होकर औदासीन्य स्वीकार करना ही 'नञ्' इस प्रतिषेध का अर्थ है ऐसा हम मानते हैं। इस कारण पुरुषार्थ के अनुपयोगी उपाख्यान आदि भूतार्थवाद ('आम्नायस्य०' इस सूत्र से) अनर्थक कहे गये हैं ऐसा समझना चाहिए।

(२१.१) ***'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्.....'*** (जैमिनी. सू. १.२.१) से मीमांसा में कहा जाता है कि क्रियासबन्धरहित वस्तूपदेश निरर्थक है। इसके ऊपर सिद्धान्ती का प्रत्याक्षेप इस प्रकार है: प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले विधिवाक्यों के विषय में तो यह ठीक है, परन्तु निवृत्ति अर्थ में कहे हुये निषेधवाक्यों में भी तो क्रियासम्बन्ध नहीं है न?

पूर्वपक्षी: वहां भी क्रियासम्बन्ध है। उदाहरण के लिये, प्रजापतिव्रत में ब्रह्मचारी के लिये उदय या अस्त होते सूर्य के दर्शन का निषेध किया है। भाद्रपद शुक्ल चतुर्थी में चन्द्रदर्शन का निषेध पुराण करते हैं। इनमें सूर्य और चन्द्र के दर्शन न करने के लिये प्रयत्न करना ही क्रियासम्बन्ध है।

सिद्धान्तीः–'ब्राह्मण को मारना नहीं चाहिये' यह निषेधवाक्य क्रिया भी नहीं, क्रियासाधन भी नहीं।

पूर्वपक्षीः—न मारने के लिये करने के प्रयत्न को ही क्रियासम्बन्ध कहें तो?

सिद्धान्तीः–परन्तु यह वाक्य तो उस प्रयत्न की विधि नहीं करता । न मारने की बुद्धि पैदा करना ही इस वाक्य का एकमात्र प्रयोजन है। बाद में यह बुद्धि भी शान्त हो जाती है। कैसे? हननप्रवृत्ति को यदि हम लकड़ी मानें तो यह बुद्धि आग जैसी है। आग लकड़ी को जलाने के बाद जैसे स्वयं भी शान्त हो जाती है; उसी प्रकार, हननप्रवृत्ति को निवारित करके यह बुद्धि भी फिर शान्त होकर औदासीन्य का कारण होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड में भी ऐसे सप्रयोजक वाक्य हैं जो क्रियासम्बन्ध से रहित हैं। उसी प्रकार, संसारनिवर्तक मिथ्याज्ञान के नाशरूपी प्रयोजन के लिये ज्ञानकाण्ड में ब्रह्मवाक्य रहना कर्मकाण्ड के विरुद्ध नही है।

२२. यदप्युक्तम् कर्तव्यविध्यनुप्रवेशम् अन्तरेण वस्तुमात्रमुच्यमानम् अनर्थकं स्यात् ''सप्तद्वीपा वसुमती'' इत्यादिवत् इति, तत्परिहृतम्। ''रज्जुरियं नायं सर्पः'' इति वस्तुमात्रकथनेऽपि प्रयोजनस्य दृष्टत्वात्। ननु श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं संसारित्वदर्शनात् न रज्जुस्वरूपकथनवत् अर्थवत्त्वमित्युक्तम्? अत्रोच्यते। न अवगत-ब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वं शक्यं दर्शयितुम्, वेदप्रमाणजनितब्रह्मात्मभावविरोधात्। न हि शरीराद्या-त्माभिमानिनः दुःखभयादिमत्त्वं दृष्टमिति तस्यै वेदप्रमाणजनित-ब्रह्मात्मावगमे तदभिमान निवृत्तौ तदेव मिथ्याज्ञाननिमित्तं दुःखभयादिमत्त्वं भवतीति शक्यं कल्पयितुम्। न हि धनिनो गृहस्थस्य धनाभिमानिनः धनापहारनिमित्तं दुःखं दृष्टमिति तस्यैव प्रव्रजितस्य धनाभिमानरहितस्य तदेव धनापहारनिमित्तं भवति। न च कुंडलिनः कुंडलित्वाभिमान-निमित्तं सुखं दृष्टमिति तस्यैव कुंडलवियुक्तस्य कुंडलित्वाभिमानरहितस्य तदेव कुंडलित्वाभिमाननिमित्तं सुखं भवति। तदुक्तं श्रुत्या ''अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'' (छां. ८.१२.१)।

२२. कर्तव्यविधि के साथ संबन्ध के बिना ही कहे जानेवाले केवल पदार्थ, 'सप्तद्वीपा०' (सात द्वीपवाली पृथिवी) इत्यादि कथन के समान निरर्थक हैं ऐसा जो कहा है, उसका 'यह रज्जु है, सर्प नहीं है' इस प्रकार वस्तुमात्र के कथन से भी प्रयोजन देखने में आता है इत्यादि कह कर निराकरण किया गया है। जिसने ब्रह्म का श्रवण किया है, उसमें भी पहले के समान संसारित्व देखने में आता है, इस कारण रज्जुस्वरूप के कथन के समान ब्रह्मस्वरूप का कथन सार्थक नहीं है (ऐसी पीछे जो शङ्का की गई है) उसके उत्तर में कहते हैं:– जिसको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव

हो गया है वह पहले के समान संसारी है, ऐसा नहीं दिखा सकते, क्योंकि वेदप्रमाण से उत्पन्न ब्रह्मात्मभाव से संसारित्व का विरोध है। शरीर आदि में आत्मबुद्धि रखनेवाले पुरुष में दुःख, भय आदि देखने में आते हैं, तो वेदप्रमाण से उसी पुरुष को 'ब्रह्म आत्मा है' ऐसा ज्ञान होने पर, उस बुद्धि की निवृत्ति हो जाने से, मिथ्याज्ञान से होने वाले दुःख, भय आदि उसमें हो सकते हैं ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यह धन मेरा है ऐसा अभिमान करनेवाले धनी गृहस्थ को उस धन की चोरी से दुःख होना देखा जाता है, यदि वही पुरुष संसार का त्याग कर दे और धन में अभिमान छोड़ दे, तो उसे उस धन की चोरी से होने वाला दुःख नहीं होता। इसी प्रकार कुण्डल पहननेवाले में 'मैंने कुण्डल पहन रखे हैं' इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला सुख देखने में आता है; यदि वही पुरुष कुण्डलरहित हो और उसे कुण्डलत्वाभिमान न हो तो 'कुण्डल पहने हैं' इस अभिमान से उत्पन्न होनेवाला वही सुख उस पुरुष को नहीं होता। यही बात 'अशरीरं॰' (अशरीर को सुख और दुःख स्पर्श नहीं करते) इस श्रुति से भी कही गई है।

(२२.१) पीछे यह आक्षेप उठाया गया था कि 'सप्तद्वीपा वसुमती' के समान वस्तुमात्रकथन से कोई प्रयोजन नहीं है। प्रत्याक्षेप के रूप में कहा गया था कि 'रज्जुमात्र के कथन से भी सर्पमति के नाश का प्रयोजन है'। यहाँ इसको और भी आगे ले जाकर ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से होनेवाले संसारित्वनाश के स्वरूप को दिखा रहे हैं। 'ब्रह्मज्ञानी भी अन्य लोगों के समान व्यवहार करता ही है।' यह व्यवहार क्यों होता है? ज्ञानी का भी मन प्रारब्ध से बहिर्मुख होता रहता है। 'शरीरारम्भक कर्म का फल निश्चित होने के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाण की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान् है–***शरीराम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिवत्'*** (बृ.भा.१.४.७)।

प्रश्नः यदि ऐसा है तो क्या इसको अविद्यालेश कहेंगे? क्या विदेहमुक्ति ही सम्यक् मुक्ति है?

उत्तरः ऐसा नहीं है। शरीरादि का व्यवहार होते रहने पर भी ब्रह्मात्मज्ञान के कारण उससे असम्बन्ध अनुभव में रहता है। अननुभवी व्यक्तियों द्वारा अगर इसमें कोई विरोध देखा जाता है तो उसमें अर्थ नहीं है। इस प्रकार, शरीर के जीवित रहते समय भी, उसमें अध्यास छोड़ा हुआ होने के कारण, इस अशरीरी को प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं होता।

इसका अनुमोदन न करने वाले पूर्वपक्षी का आक्षेप और उसका समाधान इस प्रकार हैः–

२३. शरीरे पतिते अशरीरत्वं स्यात् न जीवतः इति चेत्? न, सशरीरत्वस्य

मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात्। न हि आत्मनः शरीरात्माभिमानलक्षणं मिथ्याज्ञानं मुक्त्वा अन्यतः सशरीरत्वं शक्यं कल्पयितुम्। नित्यं अशरीरत्वं अकर्मनिमित्तत्वादिति अवोचाम। तत्कृत धर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेत्? न, शरीरसंबंधस्य असिद्धत्वात् धर्माधर्मयोः आत्म-कृतत्वासिद्धेः। शरीरसंबंधस्य धर्माधर्मयोः तत्कृतस्य च इतरेतराश्रयत्वप्रसंगात् अन्ध-परंपरा एषा अनादित्वकल्पना। क्रियासमवायाभावाच्च आत्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः। सन्निधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वम्, इति चेत्? न, धनदानादि-उपार्जित भृत्य-संबंधित्वात् तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः। न तु आत्मनः धनदानादिवत् शरीरादिभिः स्वस्वामि-संबंधनिमित्तं किंचित् शक्यं कल्पयितुम्। मिथ्याभिमानस्तु प्रत्यक्षः संबंधहेतुः। एतेन यजमानत्वम् आत्मनः व्याख्यातम्।

२३. शरीरपात होने पर अशरीरत्व होता है, जीते जी नहीं हो सकता–ऐसा कहा तो? नहीं। क्योंकि सशरीर स्थिति मिथ्याज्ञान से ही होती है। 'शरीर ही मैं हूँ' इस अभिमानरूप मिथ्याज्ञान को छोड़ कर अन्य किसी कारण से आत्मा में सशरीरत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। कर्म द्वारा उत्पन्न न होने के कारण अशरीरत्व नित्य है ऐसा हम पीछे कह आये हैं। आत्मा से किये गये धर्म और अधर्म से उसे शरीर प्राप्त होता है ऐसा कहा तो? नहीं, क्योंकि आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध ही असिद्ध है। इस कारण धर्म और अधर्म आत्मा से किये गये हैं, यह बात भी असिद्ध है। आत्मा का शरीर के साथ संबन्ध हो तो धर्म और अधर्म की उत्पत्ति हो और आत्मा द्वारा किये गये धर्म और अधर्म से शरीर के साथ संबन्ध हो ऐसा अन्योन्याश्रय होगा। इन दोनों के परस्पर कार्यकारणभाव अनादि है ऐसा मानना भी केवल अन्धपरम्परा ही है। आत्मा का क्रिया के साथ संबन्ध न होने के कारण वह कर्ता नहीं हो सकता। कर्मचारियों के साथ सन्निधानमात्र से राजा आदि में कर्तृत्व देखने में आता है ऐसा कहा तो? नहीं है, क्योंकि धनदान आदि उपायों से सम्पादित भृत्यों के साथ संबन्ध होने के कारण राजा आदि में कर्तृत्व होना ठीक है, परन्तु आत्मा का शरीर आदि के साथ धनदान आदि के समान स्व-स्वामिसंबन्ध के निमित्तकारण की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन मिथ्या अभिमान तो संबन्ध का प्रत्यक्ष कारण है। इस कथन से आत्मा के यजमानत्व का व्याख्यान हो गया।

(२३.१) अशरीरत्व को स्वीकार न करनेवाला पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि अशरीरत्व मरणान्तर ही होता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। मरने के बाद आत्मा को प्रियाप्रिय का स्पर्श है या नहीं, केवल शास्त्र ही बता सकता है कोई और नहीं । परन्तु शास्त्र तो मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग/नरक की प्राप्ति कहता है, अर्थात्

Maha Parivrajaka

मरने के बाद भी प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं छूटता। इसलिये पूर्वपक्षी का आक्षेप गलत है। और, जीवित अवस्था में ही सुषुप्ति में प्रियाप्रिय के स्पर्श से छूट जाना सकललोकप्रत्यक्ष है। श्रुति बताती है कि उसका कारण उस समय होने वाला ब्रह्मात्मैकत्व ही है। ***'सता तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'***–सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है (छा.६.८.१); ***'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते'***–परमात्मा में स्थित हो जाता है (प्र.४.७), इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। जागते ही प्राप्त होनेवाला सशरीरत्व मिथ्याज्ञाननिमित्त ही है।

आक्षेप:–ऐसा ही क्यों कहें? यदि हम कहें कि शरीर आत्मा के धर्माधर्म का ही फल है तो?

परिहार:–ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि शरीर सिद्ध होगा तो धर्माधर्म होगा, धर्माधर्म होगा तो शरीर सिद्ध होगा; इस प्रकार शरीरसंबध और धर्माधर्म, इन दोनों में कौन किसका कारण है यह निश्चय नही हो सकता–उनमें अन्योन्याश्रय दोष है। इनमें बीज–वृक्ष के समान अनादि सम्बन्ध भी नही कह सकते क्योंकि वह अन्धपरम्परा होगी; अर्थात् एक अन्धे ने कहा दूध सफेद है, उससे प्रमाण पूछा तो उसने कहा कि एक और अन्धे ने मुझसे कहा है, दूसरे अन्धे से प्रमाण मांगा तो उसने तीसरे अन्धे को कहा, इस प्रकार। इसलिये, इन दोनों में कौन किसका कारण है यह सप्रमाण ही निश्चय नहीं होता। 'सुषुप्ति में शरीरसम्बन्ध का न रहना, धर्माधर्मसम्बन्ध भी न रहना' इस सर्वानुभव का कारण श्रुतिकथित ब्रह्मात्मैकत्व ही है, इसको यदि हम याद रखतें हैं तो 'आत्मा का सशरीरत्व मिथ्याज्ञान का ही फल है, और आत्मा धर्माधर्म का कर्ता नही है' यह निश्चय हो जाता है।

संशय: आत्मा के सान्निध्य से ही शरीर में कर्म चलता है, ऐसा कहें तो?

परिहार: आत्मा अकर्ता है ये वेदान्त का डिंडिमघोष है। सुषुप्तिकाल में आत्मा से एक होने के कारण कम से कम तत्काल के लिये तो जीव को अकर्तृत्व प्राप्त होता ही है । लेकिन अविद्या के कारण उठते ही कर्तृत्व का अनुभव होता है; इसलिये, वह यज्ञ का यजमान होकर पुण्य की प्राप्ति कर सकता है।

२४. अत्राहु: देहादिव्यतिरिक्तस्य आत्मन: आत्मीये देहादौ अभिमान: गौण:, न मिथ्या इति। तन्न, प्रसिद्धवस्तुभेदस्य गौणत्वमुख्यत्वप्रसिद्धे:। यस्य हि प्रसिद्धो वस्तु-भेद: यथा केसरादिमान् आकृतिविशेष: अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिंहशब्दप्रत्ययभाक् मुख्य: अन्य: प्रसिद्ध: ततश्च अन्य: पुरुष: प्रायिकै: क्रौर्यशौर्यादिभि: सिंहगुणै: संपन्न: सिद्ध: तस्य पुरुषे सिंहशब्दप्रत्ययौ गौणौ भवत:, न अप्रसिद्धवस्तुभेदस्य। तस्य तु अन्यत्र अन्यशब्दप्रत्ययौ भ्रान्तिनिमित्तावेव भवत:, न गौणौ। यथा मन्दान्धकारे स्थाणुरयमिति अगृह्यमाण विशेषे पुरुषशब्दप्रत्ययौ स्थाणुविषयौ। यथा वा शुक्तिकायाम् अकस्मात् रजतमिति निश्चितौ शब्दप्रत्ययौ। तद्वत् देहादिसंघाते अहमिति निरुपचारेण शब्दप्रत्ययौ

आत्मानात्माविवेकेन उत्पद्यमानौ कथं गौणौ शक्यौ वदितुम्? आत्मानात्मविवेकिनामपि पंडितानाम् अजाविपालामिव अविविक्तौ शब्दप्रत्ययौ भवतः। तस्मात् देहादिव्यतिरिक्त आत्मास्तित्ववादिनां देहादौ अहंप्रत्ययो मिथ्यैव, न गौणः।

२४. इस विषय में (प्राभाकर) कहते हैं कि देह आदि से भिन्न आत्मा का अपने देह आदि में अभिमान गौण है, मिथ्या नहीं है। यह नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तुओं के भेद को जानता है, उसी को गौण और मुख्य ज्ञान होता है यह बात प्रसिद्ध है। जैसे कि केसर आदि से युक्त आकृतिविशेष अन्वय-व्यतिरेक से सिंह शब्द और सिंह इस ज्ञान का पात्र मुख्य अन्य प्रसिद्ध है और उससे भिन्न क्रूरता एवं शूरता आदि प्रायिक सिंह के गुणों से सम्पन्न पुरुष भी ज्ञात है, उस पुरुष के सिंहगुणसम्पन्न मनुष्य में होनेवाला सिंहशब्दप्रयोग और सिंहज्ञान गौण होते हैं। परन्तु जिसको वस्तुओं का भेद ज्ञात नहीं, उसको नहीं। उसको तो दूसरे अर्थ में दूसरे पदार्थ के वाचक शब्द का प्रयोग और दूसरे शब्द से दूसरे का ज्ञान भ्रान्ति से ही होते हैं, गौण नहीं हैं। जैसे मन्द अन्धकार में 'यह स्थाणु है' ऐसे विशेषज्ञान के अभाव के समय में 'पुरुष' यह शब्द और ज्ञान स्थाणु में होते हैं और जैसे शुक्ति में अकस्मात् 'यह रजत है' यह शब्दप्रयोग और ज्ञान निश्चित होते हैं, इसी प्रकार देह आदि समुदाय में प्रधानरूप से होने वाले 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान आत्मा और अनात्मा का विवेक न होने से उत्पन्न होते हैं, वे गौण कैसे कहे जायँ? आत्मा और अनात्मा का भेद जाननेवाले पंडितों को भी साधारण गड़रिये के समान शरीर आदि में 'मैं' ऐसा शब्दप्रयोग और ज्ञान भ्रान्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण आत्मा को देह आदि से भिन्न माननेवालों का शरीर आदि में होनेवाला 'मैं' यह ज्ञान मिथ्या ही है, गौण नहीं।

(२४.१) 'सशरीरत्व मिथ्याज्ञान का फल है' यह स्वीकार न करनेवाले मीमांसकों का आक्षेप है कि स्वयं शास्त्र ही मरणान्तर स्वर्ग-नरक को कहता है, इसलिये आत्मा शरीर से भिन्न ही है, इसको सब जानते हैं। कोई 'मैं आंख हूँ, मैं पैर हूँ' नहीं कहता, बल्कि 'मेरी आंख, मेरा पैर' ऐसा ही कहते हैं। इसलिये, मैं शरीर हूँ कहना गौणप्रयोग है, मिथ्याज्ञान नहीं।

परिहारः यह कथन ठीक नहीं है। गौणप्रयोग कब होता है यह विश्लेषण करके समझने पर स्पष्ट होगा। एक व्यक्ति की क्रूरता और शौर्य को देखकर सादृश्य के कारण उसे 'वह सिंह है' ऐसा कहते हैं। यह कहते समय उसको ठीक पता है कि केसरादि युक्त चतुष्पात् प्राणी ही सिंह होता है और मनुष्य उससे अत्यन्त भिन्न है। तो भी वह उपचार के लिये सादृश्य से उस मनुष्य को सिहं कहता है। यह है गौणप्रयोग। लेकिन, स्थाणु को पुरुष या शुक्ति को रजत कहते समय स्थाणु-पुरुष, शुक्ति-रजत के भिन्नत्व को वह

Mana Parivaraka

नहीं जानता। यह गौण नहीं, मिथ्याज्ञान ही है। इसी प्रकार स्वयं को शरीर समझना भी मिथ्याज्ञान ही है। स्वयं को न जानने के कारण ही शरीर से अपने भिन्नत्व का अनुभव नहीं है। 'मेरा शरीर', ऐसा कहकर अपने को शरीर से अलग करनेवाला पण्डित भी गड़रिये के समान अपने को 'मैं पुरुष हूँ' ऐसा ही कहता है। इसलिये 'मैं पुरुष हूँ' यह प्रयोग गौण नहीं, मिथ्याज्ञान ही है।

२५. तस्मात् मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः अशरीरत्वम्। तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः ''तद्यथा हि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेव इदं शरीरं शेते। अत अयमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव'' (बृ. ४.४.७) इति, ''सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव'' इति च। स्मृतिरपि ''स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'' (गी. २.५४) इत्याद्या स्थितप्रज्ञलक्षणानि आचक्षाणा विदुषः सर्वप्रवृत्त्यसंबंधं दर्शयति। तस्मात् न अवगत-ब्रह्मा-त्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् यस्य तु यथापूर्वं संसारित्वम्, नासौ अवगतब्रह्मात्मभावः इति अनवद्यम्।

२५. इससे यह सिद्ध हुआ कि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान से होता है, अतः ज्ञानी को जीवित रहते हुए भी अशरीरत्व प्राप्त हो सकता है। ब्रह्मज्ञानी के संबन्ध में 'तद्यथा०' जिस प्रकार ऐसी सर्प की त्वचा वल्मीक आदि में फेंकी हुई पड़ी रहती हैं, उसी प्रकार विद्वान् ने जिसमें अभिमान त्याग दिया है, वह शरीर पड़ा रहता है। वह अशरीर है, मरणरहित है, प्राण है, ब्रह्म है, स्वयंप्रकाश ही है और 'सचक्षुरचक्षु०' (वह नेत्ररहित होता हुआ भी नेत्रसहित के समान, कर्णरहित भी सकर्ण-सा, वागिन्द्रियरहित भी वाणी से सम्पन्न-सा, मनरहित भी मनसहित-सा, प्राणरहित भी सप्राण-सा है) ऐसी श्रुति है। 'स्थितप्रज्ञस्य०' (जिसकी प्रज्ञा स्थित है, उसकी भाषा क्या है) इत्यादि स्मृतियां भी स्थितप्रज्ञ का लक्षण कहती हुई यही दिखलाती हैं कि विद्वान का प्रवृत्ति के साथ कुछ भी संबन्ध नहीं है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा जिसने साक्षात्कार कर लिया है, वह पहले के समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्व के समान संसारी है उसमें ब्रह्मात्मभाव नहीं है, इसलिये दोष नहीं है।

(२५.१) ब्रह्मात्मैकत्व विद्या से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही शरीर से कल्पितसम्बन्ध छूट जाता है। अपनी 'फेंकी हुयी' त्वचा से जैसे सांप का सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार शरीरसम्बन्ध नष्ट होते ही वह ब्रह्म हो जाता है। इसका मतलब यह नहीं कि पहले संम्बन्ध था। पहले भी नहीं था। इसलिये 'अविद्यालेश, विदेहमुक्ति ही निजमुक्ति' इस प्रकार की कल्पनाओं को अवकाश न देते हुयी श्रुति

Maha Parivrajaka

कहती है ***'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'***–ब्रह्म ही होकर ब्रह्म में लय होता है। यह 'सचक्षु होने पर भी अचक्षु है'। अविद्यावान् की तरह नानात्व को देखते रहने पर भी नानात्व को न समझने के कारण विद्यावान् के चक्षु अचक्षु ही हैं। इसको कुछ लोग 'अचक्षु होने पर भी सचक्षु' ऐसा कहते हैं; अर्थात्, निरुपाधिक आत्मस्वरूप करणों से व्यवहार करता हुआ सा दिखाई देता है। अक्षरार्थ के अनुसार किया हुआ प्रथम वर्णन ज्ञानी के स्वहृदयप्रत्यय का वर्णन है, दूसरा वर्णन अन्य लोग ज्ञानी को कैसे देखते हैं उसका है। कह चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ के यही लक्षण हैं। ब्रह्मत्मैकत्व जिसमें नहीं वह क्षेत्र को देखते हुये अपने को क्षेत्रज्ञ समझता है। ब्रह्मात्मभाव में रहने वाला, भौतिक चक्षुओं से नानात्व को देखने पर भी, अपने को क्षेत्रज्ञ नहीं मानता; बल्कि अपने को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञों का भी कारण ब्रह्म समझता है। अर्थात्, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से (क्षेत्र-इन्द्रिय के सन्निकर्ष से) सिद्ध होने वाला नानात्वरूपी क्षेत्रधर्म, और उसका ज्ञातृत्वरूपी क्षेत्रज्ञधर्म–इन दोनों का स्वरूप एक ही आत्मा है। धर्म स्वरूप को छोड़कर नहीं रहता, लेकिन स्वरूप तो निर्धर्म ही होता है। इसलिये, जिसने क्षेत्र से अध्यासरूपी सम्बन्ध रखा है, उस अज्ञानी की ही प्रवृत्ति होती है। सम्यग्ज्ञान से प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। क्षेत्र असत् नहीं बल्कि आत्मा है; क्षेत्र में जो अध्यास किया हुआ है वह असत् यानी मिथ्या है।

२६. यत् पुनरुक्तम् श्रवणात् पराचीनयोः मनननिदिध्यासनयोःदर्शनात् विधिशेषत्वं ब्रह्मणः न स्वरूपपर्यवसायित्वमिति। न, अवगत्यर्थत्वात् मनननिदिध्यासनयोः। यदि हि अवगतं ब्रह्म अन्यत्र विनियुज्येत, भवेत्तदा विधिशेषत्वम्। न तु तदस्ति। मनन-निदिध्यासनयोरपि श्रवणवत् अवगत्यर्थत्वात्।

२६. (पूर्वपक्षी ने) पहले जो कहा था कि श्रवण के अनन्तर मनन और निदिध्यासन देखने में आते हैं, अतः ब्रह्म विधिशेष है, स्वरूप में पर्यवसायी नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवण के तुल्य मनन और निदिध्यासन ब्रह्म की अवगति-साक्षात् अनुभव के लिए हैं। यदि अवगतब्रह्म का कहीं कर्म आदि में विनियोग होता, तो वह विधि का अंग हो सकता था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। मनन और निदिध्यासन भी श्रवण के समान ज्ञान के लिए ही हैं।

(२६.१) पूर्वपक्षी के अनुसार 'श्रवण के अनन्तर कहा हुआ मनन ब्रह्म के स्पष्ट ज्ञान के लिये है, उसके बाद कथित निदिध्यासन तो उपासना है। इस ब्रह्मोपासना के पश्चात् ब्रह्मप्राप्ति होती है', यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवणादि के बाद ज्ञात होने वाले ब्रह्म का और किसी में विनियोग नहीं किया गया है। ऐसे विनियोग के लिये आस्पद भी नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान का ब्रह्मात्मावगति में पर्यावसन होता है; वहाँ उपास्य-उपासक का भेद छूट जाता है, इसलिये उपासना कैसे हो सकती है? अतः मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान के लिये ही कहे गये हैं।

२७. तस्मात् न प्रतिपत्तिविधिविषयतया शास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवति। इत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्यसमन्वयात् इति सिद्धम्। एवं च सति ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारंभः उपपद्यते। प्रतिपत्ति-विधि-परत्वे हि ''अथातो धर्मजिज्ञासा'' इत्येव आरब्धत्वात् न पृथक्शास्त्रम् आरभ्येत। आ-रभ्यमाणं च एवमारभ्येत ''अथातः परिशिष्टधर्मजिज्ञासा'' इति। ''अथातः क्रत्वर्थ पुरुषार्थयोर्जिज्ञासा'' (जै. सू. ४.१.१) इतिवत्। ब्रह्मात्मैक्यावगतिस्तु अप्रतिज्ञाता इति तदर्थोयुक्तः शास्त्रारंभः ''अथातो ब्रह्मजिज्ञासा''।

२७. इसलिये उपासनाविधिपरत्वरूप से ब्रह्म शास्त्रप्रमाणक नहीं है। ब्रह्म स्वतन्त्र ही शास्त्रप्रमाणक है इसलिए वेदान्तवाक्यों का समन्वय ब्रह्म में ही है, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसा होने से ही 'अथातो॰' इस प्रकार ब्रह्मविषयक पृथक्शास्त्र का आरम्भ युक्त है। वेदान्त यदि उपासनाविधि का विषय होता तो 'अथातो धर्म॰' इस शास्त्र के पहले ही आरब्ध होने के कारण पृथक्शास्त्र का आरम्भ नहीं होता। यदि आरम्भ होता तो 'अथातः क्रत्वर्थ॰' (अब क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा) सूत्र की तरह 'अथातः परिशिष्ट॰' (अब अवशिष्ट धर्म की जिज्ञासा) इस प्रकार आरम्भ होता। ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान की प्रतिज्ञा पूर्वमीमांसा में नहीं है, इससे उसके लिए 'अथातो ब्रह्म॰' इस प्रकार नवीनशास्त्र का आरम्भ युक्त है।

(२७.१) 'ब्रह्म प्रतिपत्तिविधि द्वारा शास्त्रप्रमाणक नही है, स्वतन्त्ररूप से ही शास्त्रप्रमाणक है', यह बात यहाँ युक्ति से सिद्ध कर रहे हैं। **सिद्धान्तीः** चूंकि उपासना मानसिक कर्म है, इसलिये उपासना का विचार तो धर्मजिज्ञासा में ही आना चाहिये था क्योंकि प्रतिप्रत्तिविधिविषय ब्रह्म तो वहीं का विषय होता है। इसके लिये एक और शास्त्र का आंरभ करने की आवश्यकता नहीं रहती?

पूर्वपक्षीः ऐसा नहीं है। 'धर्मजिज्ञासा में उपासना का विचार नहीं आ सकता है। यह तो प्रकरण ही अलग है।' **सिद्धान्तीः**–यदि ऐसा है तो 'अब परिशिष्ट क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा करते हैं' इस प्रकार कहकर जैसे धर्मशास्त्र में ही एक और प्रकरण का आंरभ किया है, उसी प्रकार यहां भी ***'अथातः परिशिष्ट धर्मजिज्ञासा***–अब इसलिये शेष धर्मजिज्ञासा की जाती है' कहकर आरंभ कर सकते थे। परन्तु ऐसा न करके एक और शास्त्र का आंरभ किया गया है। क्यों नया शास्त्र आंरभ किया गया है? क्योंकि धर्मजिज्ञासा में ब्रह्मात्मैकविज्ञान की प्रतिज्ञा नही की गयी है।

२८. तस्मात् ''अहं ब्रह्मास्मि'' इत्येतदवसाना एव सर्वे विधयः सर्वाणि च इतराणि प्रमाणानि। न हि अहेय-अनुपादेय-अद्वैतात्म-अवगतौ निर्विषयाणि अप्रमातृकाणि च प्रमाणानि भवितुमर्हन्ति। अपि च आहुः

गौणमिथ्यात्मनोऽसत्त्वे पुत्रदेहादिबाधनात्।
सद्ब्रह्मात्माहमित्येवं बोधे कार्यं कथं भवेत्।।१।।
अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः।।२।।
देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्।।३।।

इति चतुःसूत्री समाप्ता।

२८. इसलिये, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होने तक ही सब विधि और दूसरे प्रमाण हैं। क्योंकि हेय और उपादेय रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का ज्ञान होने पर, न कोई विषय है और न प्रमाता है, इसलिए प्रमाण ही नहीं हो सकते। और (ब्रह्मवेत्ता) कहते हैं–

'गौणमिथ्यात्मनो०' (अबाधित सद्रूप ब्रह्म '*मैं हूँ*' ऐसा बोध होने पर पुत्र, देह आदि का बाध होता है, उससे गौणमिथ्यात्मा दोनों बाधित होंगे–तब व्यवहार कैसे हो सकते हैं)। 'अन्वेष्टव्य०' (जिस आत्मा का ज्ञान करना है उसके पहले आत्मा प्रमाता बन सकता है, इस अन्वेष्टव्य आत्मा का ज्ञान होने पर प्रमाता पुण्य–पाप आदि दोषों से रहित हो जाता है)। 'देहात्म०' (जिस प्रकार 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान कल्पित होने पर भी प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार (प्रत्यक्ष आदि) लौकिक प्रमाण भी आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त प्रमाण हैं।

(२८.१) सर्वेविधयः इतिः–संशयः यदि आत्मज्ञान विधिकर्म का फल होता तो वह अनित्य सिद्ध होगा। ***'तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अपि अनियोज्य विषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति'*** और ***'विधिच्छायानि वचनानि'*** कहकर श्रवण, मनन और निदिध्यासन विधि नहीं है यह समझाया गया है। अब यहां ***'अहं ब्रह्मास्मि इति एतत् अवसाना एव सर्वे विधयः'*** कहने से तो ये विधि ही सिद्ध हुये न? इसपर कोई एक परिहार करता हैः–इस वाक्य में निश्चित नही है कि विधि शब्द से श्रवणादि को ही कह रहे हैं। शायद धर्मशास्त्रविधि को ही कह रहे होंगे? इस पर सिद्धान्ती कहता हैः–यह ठीक है, परन्तु यहाँ विधि के अर्थ में तव्य प्रत्ययों को सुनकर संशय होता है। अतः चर्चा करते हैंः–

(२८.२) ***'ज्ञानेन हि प्रमाणेन अवगन्तुम् इष्टं ब्रह्म',*** जिज्ञासाधिकरण में कथित इस वाक्य में प्रयुक्त ज्ञान पद की व्याख्या वहाँ की गयी है। ब्रह्म का यह ज्ञान श्रद्धापूर्वक किये गये श्रवण से ही आरंभ होता है। श्रवण होते ही सबको ज्ञान नहीं मिल जाता। श्वेतकेतु इसमें दृष्टान्त है। मननानंतर ही निश्चित ज्ञान मिलता है। इस ज्ञान का प्रमेय ब्रह्म है। प्राज्ञ, जो कि वह स्वयं ही है, प्रमाता है। यह द्वैत ही है। परन्तु

Maha Parivrajaka

श्रुति कहती है 'प्राज्ञ ही ब्रह्म है', और ब्रह्मस्वरूप प्राज्ञ ही आत्मा है। इसलिये, प्रमाता द्वारा बुद्धि निरन्तर आत्मा की ओर प्रवाहित करते रहने पर बुद्धि आत्मा में लीन हो जाती है। यही निदिध्यासन है। इससे ही अवगति होती है। अवगति के लिये निदिध्यासन कितने समय तक करना होता है? यह पूछा जाये तो उत्तर है:–'पहला हो, आखिरी हो, सन्तत हो, असन्तत हो, जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों का निवारक हो, वही विद्या है–***य एव अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या'*** (बृ.भा. १.४.१०)। तब तक होने वाले श्रवणमनननिदिध्यासन को विधि-सा समझना गलत नहीं होगा; कर्मकाण्ड में विधि अनुसार किये हुए कर्म के फल पाने जैसा यह भी है।

संशयः–यदि ऐसा है तो उनको 'विधिच्छायानि' क्यों कहा? विधि ही क्यों नहीं कहा?

परिहारः–विधि नहीं है। कारण यह है कि कर्मकाण्ड में विधियुक्त कर्म और तत्फल अलग-अलग हैं। यहाँ ऐसा नहीं है। मनन और निदिध्यासन श्रवण द्वारा उत्पन्न ज्ञान से भिन्न एक और ज्ञान की उत्पत्ति नहीं करते। तो भी, इनके बिना ज्ञान की सिद्धि भी नहीं होती। इसलिये ये 'विधिच्छायानि वचनानि' हैं।

(२८.३) इस ब्रह्मात्मज्ञान से प्रमातृत्व छूट जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मात्मज्ञान से प्रमेयविषय ही नष्ट हो जाता है; बल्कि प्रमेय भी स्वयं ही होने के कारण प्रमातृत्व ही छूट जाता है। ***'अजं ब्रह्म सर्वमित्येतत् शास्त्राचार्योपदेशतः अनुस्मृत्य तद्विपरीतं जातुं नैव तु पश्यति, अभावात्'***– शास्त्राचार्य के उपदेश से 'सब अज ब्रह्म ही है' इस प्रकार जब अनुस्मरण करता है, तब, उससे विरुद्ध कुछ नहीं देखता, क्योंकि ऐसा कुछ है ही नहीं। (मां. का. भा. ३.४३)। अद्वैतात्म-अवगति, यानी अपने से भिन्न कुछ नहीं रहने के कारण हानोपादानरहित सर्वात्मभाव प्राप्त होता है। आगे ब्रह्मज्ञानियों की गाथाओं को सुनाकर इसका समर्थन करते हैं।

(२८.४) श्लोक (१) ***पुत्रदेहादिबाधनात् इतिः***–यहां बाधनात् का अर्थ नाशनात् नहीं है। देह नाश होगा तो वेदान्तपरम्परा का निर्वाह नहीं हो पायेगा।

'बाधनात्' का अर्थ है 'प्रपंचविलय', अर्थात् सर्वात्मभाव में, जहाँ सब कुछ स्वरूपदृष्टि से ही दिखता है, पुत्रादि अपने नहीं और देहादि स्वयं नहीं रहता। पुत्रादि गौणात्मा हैं, देहादि मिथ्यात्मा हैं। सर्वात्मभाव में ये दोनों असत् हैं। जब तक गौणात्मा और मिथ्यात्मा हैं, तभी तक सब कार्य चलते हैं। इसलिये, वे जब नहीं रहते, तब कार्य कुछ नहीं रहता।

(श्लोक २) ***अन्वेष्टव्य इतिः***–अज्ञानी के लिये आत्मा अलग ही होती है। इसलिये श्रुति–***'सोऽन्वेष्टव्यः सः विजिज्ञासितव्यः***– उस आत्मा की खोज करनी चाहिये, उसकी विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिये' (छा. ८.७.१), कहती है। प्रमाता अज्ञानी को वह आत्मा ढूंढनी होती है। आत्मज्ञान के पश्चात् प्रमातृत्व स्वभाविक रूप से छूट जाता है। पाप-पुण्य प्रमातृत्व रहने तक ही होते हैं; इसलिये, अद्वैतात्मज्ञान से ये दोष भी छूट जाते हैं।

Mahaavirata

(श्लोक ३) *देहात्मप्रत्यय इति:*–प्रमातृप्रमेय व्यवहार के लिये प्रमाण आधार है। और प्रमाण का प्रामाण्य अनुभव है। यह अनुभव अध्यास पर आधारित है। अर्थात् सब लौकिक–वैदिक व्यवहार के लिये प्रमाण का आधार अध्यास ही है। प्रमातृत्वकाल में यह सहज होने पर भी आत्माज्ञान से अध्यास के नाश होते ही सब प्रमाणों का प्रामाण्य और लौकिक व्यवहार का प्रामाण्य, '*अपने में अविद्या से कल्पित थे*' यह समझ में आ जाता है।

(२८.५) 'प्रमाण का प्रामाण्य कल्पित है' इस वाक्य में 'कल्पित' शब्द का क्या अर्थ है? यदि श्रुतिप्रमाण भी कल्पित है तो श्रुति द्वारा कथित अव्यवहार्यात्मोपदेश का हम कैसे विश्वास करें? किसी तरह विश्वास करके स्वीकार करने पर यदि आत्मज्ञान को पा भी लिया, तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है या नहीं इसका निश्चय कैसे होगा?

इन प्रश्नों का उत्तर इस प्रकार है:–

'कार्यरूप विकारों में ही परस्पर व्यवहार हो सकता है, कारण में नहीं। परन्तु कारणरहित कार्य में भी व्यवहार नहीं हो सकता–***न हि निरात्मकं किंचित् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते***' (गी.भा.९.४)। यथार्थ रूप से देखा जाये तो 'कारणरहित कार्य अभाव ही है–***कारण व्यतिरेकेण अभाव: कार्यस्य***' (सू.भा.२. १.१४)। घड़े के ऊपर ईंट गिरी और वह टूट गया, ये व्यवहार मृद्विकारों में ही हैं, मिट्टी में नहीं। मिट्टीरहित मृद्विकार रह ही नहीं सकता। उसी प्रकार, प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय व्यवहार क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ के बीच में ही हो सकता है आत्मा में नहीं। परन्तु क्षेत्र या क्षेत्रज्ञ निरात्मक नहीं हैं। प्रमाकरण का प्रमेय से सन्निकर्ष होने पर बुद्धि में प्रमा पैदा होना–ये क्षेत्रधर्म है। यह होते ही प्रकृतिस्थ क्षेत्रज्ञ 'मुझे प्रमा प्राप्त हुयी है, मैं प्रमाता हूँ' ऐसा समझता है। एक प्रमेय की सब प्रमाताओं में एक ही प्रमा होती है। ब्रह्मात्मज्ञान से जिसका अध्यास नष्ट हो चुका है, उस ज्ञानी की बुद्धि में भी यही प्रमा पैदा होती है; इसलिये, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ वास्तव हैं कल्पित नहीं हैं। तो कल्पित क्या है? ***'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य असत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते'***–अन्य पदार्थ (द्वैत) के अविद्याकृत होने पर ही अविद्या के द्वारा उसके अवस्तुत्वदर्शन की उपपत्ति हो सकती है। द्वितीय चन्द्र का असत्त्व यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रों वाले पुरुषों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता (तै.भा. २.८.५)। इसलिये, 'प्रमातृ–प्रमाण–प्रमेय व्यवहार में कल्पित क्या है?' प्रमातृत्व। 'किस में?' प्राज्ञ में । 'कैसे?' प्राज्ञ वास्तव में प्राज्ञ नहीं, वह तो प्रमातृत्वरहित आत्मा ही है। इसलिये, प्राज्ञ का अपने को आत्मा समझते ही क्षेत्रव्यवहार क्षेत्र में ही रह जाता है, उसके (प्राज्ञ के) निकट भी नहीं जा पाता।

'ऐसा है तो ज्ञानप्राप्ति के बाद जड़क्षेत्र में किससे व्यवहार चलता है?' 'प्रारब्ध के अनुसार प्राज्ञ का व्यवहार चलानेवाला ईश्वर है, जिसमें स्वरूपाश्रय से औदासीन्य और मायाश्रय से प्रवर्तकत्व है–***परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यम् मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्***' (सू.भा. २.२.७)।

Maha Parivrajaka

प्रश्नः 'सृष्टि आदि व्यवहार ईश्वर के ही हैं, ज्ञानी के नहीं, इसलिये, ब्रह्मात्मैकत्व अनुपपन्न है न?'

उत्तरः ऐसा नहीं है। ज्ञानी ईश्वर ही है। 'आत्मविज्ञान से पहले अपने से अलग ईश्वर से प्राण से नाम तक पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय होते थे। सदात्मविज्ञान होने के बाद वे अपनी आत्मा से ही हो गये। इस प्रकार, ज्ञानी के और भी सब व्यवहार आत्मा से ही होने लगते हैं–***प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः प्राणादेः नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मन एव विदुषः'*** (छा. भा. ७.२६.१)। वह ईश्वर ही ज्ञानी के शरीर के व्यवहार को भी संभालता है। परन्तु सम्यग्ज्ञान के उपरान्त वस्तुतः व्यवहार है ही नहीं, एकमेवाद्वितीयं ही है।

Maha Parivrajaka

शब्दानुक्रमणिका

पहले अक्षर अधिकरण के नाम सूचित करते हैं:

अ=अध्याभाष्य;
ज=जन्माद्यधिकरण;
जि=जिज्ञासाधिकरण;
शा=शास्त्रयोनित्वाधिकरण;
स=समन्वयाधिकरण

Maha Parivrajaka

Maha Parivrajaka

●●●

Maha Parivrajaka

सङ्केतसूची

सङ्केत	ग्रन्थ
ई.	ईशावास्योपनिषत्
ई. भा.	ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मणम्
ऐ. भा.	ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्
क.	कठोपनिषत्
क. भा.	कठोपनिषद्भाष्यम्
के.	केनोपनिषत्
के. भा.	केनोपनिषद्भाष्यम्
गी.	भगवद्गीता
गी. भा.	भगवद्गीताभाष्यम्
छां.	छान्दोग्योपनिषत्
छां. भा.	छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्
जै. सू.	जैमिनिसूत्रम्
तै.	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै. भा.	तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्
तै. सं.	तैत्तिरीयसंहिता
तां. ब्रा.	ताण्ड्यब्राह्मणम्
नि.	यास्कनिरुक्तम्
न्या. सू.	गौतमन्यायसूत्रम्
प्र.	प्रश्नोपनिषत्
प्र. भा.	प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्
बृ.	बृहदारण्यकोपनिषत्
बृ. भा.	बृहदार्ण्यकोपनिषद्भाष्यम्
मां.	माण्डूक्योपनिषत्
मां. भा.	माण्डूक्योपनिषद्भाष्यम्
मां. का. भा.	माण्डूक्यकारिकाभाष्यम्
मुं.	मुण्डकोपनिषत्
मुं. भा.	मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्
शा. भा.	शाबरभाष्यम्
श्वे.	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सू	ब्रह्मसूत्रम्
सू. भा	ब्रह्मसूत्रभाष्यम्

●●●

Maha Parivrajaka

श्रेयस्करी में आये शास्त्रवाक्यों और भाष्यवाक्यों की सूची

अध्यासभाष्य

'भूत भविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वम् अस्य एव इति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते'–भूत भविष्यत् का तथा सम्पूर्ण विषयों का ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होने पर भी इसे भूतपूर्व गति से प्राज्ञ कहा जाता है। (मां.भा.५) **(२.१)**

'यद् यद् कस्यचिदवभासकं तत् तत् ज्योतिः शब्देन अभिधीयते–जो-जो किसी वस्तु का प्रकाशक है, उस-उस को ज्योति कहा जाता है'(सू.भा.१.१.२४)।**(३.२)**

'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोः इतरेतर-तद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूप विवेकअभावनिबन्धनः रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावाद् अध्यारोपित- सर्परजतादिसंयोगवत्। सोऽयम् अध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगः मिथ्याज्ञानलक्षणः'–क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, जो कि विषय और विषयी हैं तथा भिन्न स्वभाव वाले हैं उनका, अन्य में अन्य के धर्मों का अध्यासरूप संयोग है। यह संयोग, रज्जु और सीप आदि में, उनके स्वरूपज्ञान के अभाव के कारण अध्यारोपित सर्प और रजत आदि के संयोग के समान, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण है। वह यह अध्यासस्वरूप क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग मिथ्याज्ञान है (गीता. भा.१३.२६)।**(३.४)**

'बीजावस्थापि 'न किंचिदवेदिषम्' इति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'–जागने के बाद 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)।**(३.५)**

'तेन एव हि अहंकर्त्रा अहंप्रत्ययविषयेण प्रत्ययिना सर्वाः क्रियाः निर्वर्त्यन्ते, तत्फलं च स एव अश्नाति'–अहंप्रत्यय के विषय प्रत्ययी अहंकर्ता से सब क्रियाएँ की जाती हैं और उनका फल वही भोगता है (सू.भा. १.१.४)।**(८.१)**

'*कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं*-कार्य कारण से अनन्य है लेकिन कारण कार्य से अन्य ही है' (सू.भा.२.१.९)।**(८.१)**

'यद् रूपेण यन् निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्'–जिस रूप में एक काल में ज्ञात होकर सदा सर्वकाल उसी रूप में रहता है, वह सत्य है। और 'अनृत' क्या है? जो बदलता है– *'यद् रूपेण यन् निश्चितं यत्*

नोट–कोष्ठक में आयी काली संख्या कंडिका की सूचक है।

Maha Parivrajaka

तद् रूपं व्यभिचरत् अनृतम् इति उच्यते'–जिस रूप में एक बार ज्ञात होकर जो बाद में उस रूप को छोड़ देता है, वह अनृत है (तै.भा. २.१.१)।**(८.२)**

वह अविभक्त होने पर भी (देहादि संबंध से) विभक्त सा स्थित है–**अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्** (गी. १३.१६)।**(८.३)**

'अयम् अपि बुद्धिसम्बन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्तप्रलययोः पुनः प्रबोध प्रसवयोः आविर्भवति। एवं हि एतत् युज्यते, नहि आकस्मिकी कस्यचित् उत्पत्तिः संभवति'–सुषुप्ति और प्रलय में शक्तिस्वरूप से वर्तमान यह बुद्धिसम्बन्ध ही पुनः प्रबोध और प्रसव में आविर्भूत होता है। (यह इस प्रकार ही युक्त है क्योंकि) किसी की आकस्मिक उत्पत्ति नहीं हो सकती है (सू.भा.२.३.३१)।**(९.४)**

'बाल्येन तिष्ठासेत्'–बाल्यभाव में रहे (बृ.३.५.१)।**(९.४)**

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः एतत् क्षेत्रम्'–इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, स्थूलदेह, चेतना और धृति ये क्षेत्र हैं (गीता १३.६)।**(९.४)**

'सूर्य चन्द्र रूपी जगत् की जैसे पहले सृष्टि थी, उसी प्रकार ईश्वर से फिर होती है–***सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'*** (ऋ.सं. १०.१९०.३)।**(९.६)**

'शुक्तिकां रजतम् इति प्रत्येति इति अत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दः रजतशब्दः तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येति एव हि केवलं रजतम् इति, न तु तत्र रजतम् अस्ति'–'शुक्ति को रजत समझता है' इसमें शुक्ति शब्द तो शुक्तिवाचक ही है लेकिन रजत शब्द का अर्थ है रजत की प्रतीति, क्योंकि यह रजत है ऐसी केवल प्रतीति ही होती है असल में वहाँ रजत नहीं है (सू.भा. ४.१.५)।**(१२.१)**

'एतै प्राणादिभिः आत्मनः अपृथग्भूतैः अपृथग्भावैः एषः आत्मा रज्जुरिव सर्पादि विकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितः मूढैः इत्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्ति'–रज्जु में कल्पित सर्पादि भावों से रज्जु के समान यह आत्मा अपने से अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावों से पृथक् ही है–ऐसा मूर्खों को लक्षित–अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है। विवेकियों की दृष्टि में तो रज्जु में कल्पित सर्पादि के समान ये प्राणादि आत्मा से भिन्न हैं ही नहीं (मां.का.भा. २.३०)।**(१४.२)**

'एकस्मिन् चन्द्रे तिमिरकृत-अनेकचन्द्रप्रपंचवत् अविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपंचः विद्यया प्रविलापयितव्यः'–एक चन्द्र में नेत्रदोष से किये गये अनेक चन्द्रों के प्रपंच के समान ब्रह्म में अविद्याकृत नामरूप प्रपंच का विद्या से प्रविलय करना (सू.भा. ३.२.२१)।**(१४.२)**

'कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव'–कार्य का आकार भी स्वरूपत: कारण ही है (सु.भा.२.१.१८)।**(१४.२)**

इस प्रकार है अथवा इस प्रकार नहीं है, या है अथवा नहीं है, ये विकल्प वस्तु के बारे में नहीं किये जा

सकते हैं क्योंकि विकल्प पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा से होते हैं। किसी भी वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। वह (वस्तु का यथार्थज्ञान) तो वस्तु के ही अधीन है। एक स्थाणु में 'यह स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य कोई है' यह ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है। वहाँ पुरुष है अथवा और कुछ है यह मिथ्याज्ञान है। स्थाणु ही है यह यथार्थज्ञान है क्योंकि वह वस्तु के अधीन है–***'न तु वस्तु एवं नैवम्, अस्ति नास्ति इति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्। किं तर्हि? वस्तुतन्त्रम् एव तत्। नहि स्थाणौ एकस्मिन् स्थाणुर्वा पुरुषो वा अन्यो वा इति तत्त्वज्ञानं भवति। तत्र पुरुषः अन्यो वा इति मिथ्याज्ञानम्। स्थाणुरेव इति तत्त्वज्ञानम् वस्तुतन्त्रत्वात्'*** (सू.भा. १.१.२)। **(१४.४)**

जीवादि पदार्थों में, एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व इन विरुद्ध धर्मों का सम्भव न होने से सत्त्वरूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्त्व का सम्भव न होने से और असत्त्व में सत्त्व का सम्भव न होने से भी यह आर्हत मत असंगत है–***'जीवादिषु पदार्थेषु एकस्मिन् धर्मिणि सत्त्वासत्त्वयोः विरुद्धयोः धर्मयोः असंभवात्, सत्त्वे च एकस्मिन् धर्मे असत्त्वस्य धर्मान्तरस्य असंभवात्, असत्त्वे च एवं सत्त्वस्य असंभवात् असंगतमिदं अर्हतमतम्'*** (सू.भा. २.२.३३)। **(१४.४)**

यदि वह भूतवस्तु है तो उसका होना प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति या आगम प्रमाण में से किसी एक के द्वारा ही निश्चित होता है, क्योंकि जब वह इनमें से किसी एक का भी विषय नहीं होता तभी उस वस्तु का अभाव होता है–***'उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य अनुपलब्धेः अभावो वसत्वन्तरस्य'*** (सू.भा.२.२.१७)। **(१४.४)**

'न अयं साधुः अध्यवसायः यतः प्रमाणप्रवृत्ति-अप्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवौ अवधार्येते न पुनः संभवासंभवपूर्विके प्रमाणप्रवृत्त्यप्रवृत्ती'–यह निश्चय साधु नहीं है क्योंकि प्रमाण की प्रवृत्ति से संभव का और प्रमाण की अप्रवृत्ति से असम्भव का निश्चय किया जाता है। संभव और असंभव से प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति का निश्चय नहीं किया जाता (सू.भा. २.२.२८)। **(१४.४)**

'कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं'–कार्य कारणात्मक है परन्तु कारण कार्यात्मक नहीं है (सू.भा. २.१.९)। **(१४.४)**

'कार्यं त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति' कार्य का तीनों कालों में कभी भी सत्ता से व्यभिचार नहीं होता (सू.भा.२.१.१६)। **(१४.४)**

'बीजावस्थापि न किंचिदवेदिषमिति उत्थितस्य प्रत्ययदर्शनात् देहे अनुभूयत एव'–जागने के बाद 'मैं कुछ नहीं जाना' इस प्रकार प्रत्यय उत्पन्न होने से, बीजावस्था भी देह में अनुभव को आती ही है (मां.का.भा. १.२)। **(१६.१)**

'उस अवस्था में तो इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है। उस

Mana Parivrajaka

समय तो ये मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है। इसमें तो मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता– ***नाह खलु अयम् एवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति अयम् अहम् अस्मि इति नो एवमानि भूतानि। विनाशम् एव अपीतो भवति न अहम् अत्र भोग्यं पश्यामि'*** (छा.८.११.१)। **(१६.१)**

'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'–यदि ज्ञानाभाव को, संशयज्ञान को अथवा विपरीत ज्ञान को अज्ञान कहा जाये तो इन सभी की निवृत्ति ज्ञान से ही हो सकती है (बृ. भा.३.३.१)।**(१९.१)**

'सुषुप्तकाले स्वेन आत्मना सता संपन्नस्सन् संयक् प्रसीदतीति जाग्रत्स्वप्नयोः विषयेन्द्रिय संयोग जातं कालुष्यं जहाति'-सुषुप्तकाल में अपने आत्मा सत् से सम्पन्न हुआ पुरुष सम्यक् रूप से प्रसन्न होता है अतः वह जाग्रत तथा स्वप्न के विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त हुई कालिमा को त्याग देता है (छा.भा. ८.३.४)। **(१९.२)**

'तत्त्व अप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्' (मां.का.भा. १.११) तत्त्व का अप्रतिबोधरूप बीज ही प्राज्ञत्व में कारण है। **(१९.२)**

'अग्रहण विपरीत संशय प्रत्ययाः तन्निमित्ताः करणस्य एव कस्यचिद् भवितुम् अर्हन्ति न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य' - अग्रहण, विपरीतग्रहण और संशय के प्रत्यय और उनके कारण ये सब किसी-न-किसी करण के ही धर्म हैं, ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं (गी.भा. १३.२)।

वह मन से प्राप्त होने वाला है— ***'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'*** (बृ. ४.४.१६)। **(१९.२)**

आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मानि गवादि शब्दवन् निरूढत्वात्– गवादि शब्द के समान उपपदरहित आत्मशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा में निरूढ है (छां. भा. ६.८.७)।**(२०.१)**

'समस्त कार्य, करण और विषयों के आकार में परिणत होकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देहेन्द्रियादि के आकारों द्वारा मूर्तिमान् होती हैं– ***प्रकृतिः च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरण विषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते'*** (गीता.भा. अध्याय १३ का सम्बन्धभाष्य)।**(२१.१)**

' भौतिक करणों की सृष्टि विषयों की सृष्टि के साथ-साथ ही होती है। ***यदि तावद् भौतिकानि करणानि ततः भूतोत्पत्तिप्रलयाभ्याम् एव एषाम् उत्पत्तिप्रलयौ भवतः'*** (सू.भा. २.३.१५)।**(२१.१)**

करण विषय के समानजातीय ही हैं जात्यन्तर नहीं–***विषयसमानजातीयं करणं, न तु जात्यन्तरम्।*** (बृ.भा. २.४.११) **(२१.१)**

'इन्द्रियां इन्द्रियार्थों में प्रवृत्त होती हैं' इस प्रकार समझकर ***'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्'***–(गीता ५.९)।**(२१.१)**

Maha Parivrajaka

'ऐसा पुरुष, लोकव्यवहार की साधारण दृष्टि से तो सांसारिक पुरुषों द्वारा आरोपित किये हुये कर्तापन के अनुसार भिक्षाटन आदि कर्मों का कर्ता होता है। परन्तु शास्त्रप्रमाणजनित अपने अनुभव से तो वह अकर्ता ही होता है–***लोकव्यवहार- सामान्यदर्शनेन तु लौकिकैः आरोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणजनितेन अकर्ता एव'*** (गी.भा. ४.२२)। **(२१.१)**

'शरीरारम्भक कर्मों का फल निश्चित होने के कारण, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के बाद भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी ही है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाणादि की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान है–***शरीरारम्भकस्य कर्मणः नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणः बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादि प्रवृत्तिवत्'*** (बृ.भा.१.४.७)। **(२१.२)**

'एक पुरुष को अपने हृदय से ही जिसकी प्रतीति होती है, ऐसे ब्रह्मज्ञान और देहधारण का अन्य पुरुष द्वारा आक्षेप कैसे किया जा सकता है? श्रुति-स्मृति में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों के निर्देश से भी यही कहा जाता है–***कथं हि एकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं च अपरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत? श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेन एतदेव निरुच्यते'*** (सू.भा. ४.१.१५)। **(२१.३)**

साधक को पहले शास्त्र से यह निश्चय करना होता है कि कौन सा कर्म करने योग्य है–***'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'*** (गीता. १६.२४)। शास्त्रानुसार उस कर्म के लिये निमित्तमात्र होना होता है (***निमित्तमात्रं भव***, गीता ११.३३); फल में निरासक्त होना होता है (***मा कर्मफल हेतुर्भूः***, गी. २.४७)। **(२१.४)**

'अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'–इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नामरूपों को रचता हूँ (छा. ६.३.२)। **(२१.५)**

यही है ईश्वर का अहंकार ***'अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्'*** (गी.भा. ७.४)। **(२१.५)**

'अयं वे दश च सहस्राणि बहूनि च प्राणि भेदस्य आनन्त्यात्'- वही दस, सहस्र, बहु, अनन्तरूप है, क्योंकि प्राणि विशेष अनन्त हैं। (बृ. भा. २.५.१९) **(२४.१)**

'शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्'–सौ, हजार, दस हज़ार, न्यर्बुद, असंख्यजीव इसमें छिपे हुये हैं (अथर्वसंहिता १०.८.२४)। **(२४.१)**

'ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासं, विज्ञानस्पन्दितं स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया'- अचल आत्मा ही अविद्या से विषयी और विषय के रूपों में भासता है (मां. का. भा. ४.४७)। **(२४.१)**

'इन्द्रियगोचर विकार भी कारणतत्त्व ही है, नहीं तो वह विकार अस्तित्व में ही नहीं आ सकता था–***कार्याकारोऽपि कारणस्य आत्मभूत एव अनात्मभूतस्य अनारभ्यत्वात्'*** (सू.भा.२.१.१८)। **(२४.२)**

'कार्य-कारणअनत्यत्व कहने पर भी कार्य कारणस्वरूप का है, न कि कारण कार्यस्वरूप का है-***अनन्यत्वेऽपि कार्यकारणयो: कार्यस्य कारणात्मत्वं न तु कारणस्य कार्यात्मत्वं'*** (सू.भा.२.१.९)। **(२४.२)**

समस्त विश्व ब्रह्म है-***'ब्रह्मैवेदं विश्वम्'*** (मु.२.२.११)। **(२४.२)**

'तत्त्वमसि'-वह तुम ही हो (छा. ६.८.७)। **(२४.२)**

आत्मस्वरूप का आश्रय लेने से बाह्याकार (सामने रहने पर भी) भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है-***'बाह्याकार भेदबुद्धि निवृत्तिरेव आत्मस्वरूपावलंबन- कारणम्'*** (गी.भा. १८.५०)। **(२४.२)**

शुद्धात्मा अन्वेष्टव्य है, विजिज्ञासितव्य है-***'सोऽन्वेष्टव्य: स विजिज्ञासितव्य:'*** (छा. ८.७.१)। **(२५.१)**

'आत्मैवेदं सर्वम्'-यह सब कुछ आत्मा ही है (छा. ७.२५.२) **(२५.१)**

'य: तु आत्मशब्दस्य इतिपर: प्रयोग: आत्मशब्दप्रत्यययो: आत्मतत्त्वस्य परमार्थतोऽविषयत्वज्ञापनार्थम्'- आत्मा शब्द का जो 'इति' शब्द लगाकर प्रयोग किया गया है वह परमार्थत: आत्मशब्द और आत्मप्रत्यय का अविषयत्व सूचित करने के लिये है (बृ.भा.१.४.७)। **(२५.१)**

'ननु आत्मा अहंप्रत्ययविषयत्वात् उपनिषत्सु एव विज्ञायते इति अनुपपन्नम्? न। तत् साक्षित्वेन् प्रत्युक्तत्वात्'-आत्मा 'मैं' इस प्रतीति का विषय होने से उपनिषदों से ही जाना जाता है, यह कथन अयुक्त है न? नहीं। क्योंकि कह चुकें हैं कि आत्मा उसका भी साक्षी है (सू.भा. १.१.४)। **(२५.१)**

'यथा मृद्घटाद्याकारेण, यथा वा रज्जवादि सर्पाद्याकारेण बुद्धिपरिकल्पितेन। असदेव तर्हि सर्वं यद्गृह्यते रज्जुरिव सर्पाद्याकारेण? न। सत एव द्वैत भेदन अन्यथा गृह्यमाणत्वात् न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित्'-जिस प्रकार कि मृत्तिका घटादि के आकार से अथवा जिस प्रकार बुद्धि से परिकल्पित सर्पादि आकार से रज्जु उत्पन्न होती है। (यदि कहो कि) तब तो रज्जु जिस प्रकार सर्पादि आकार से ग्रहण की जाती है उसी प्रकार जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह असत् ही है (तो इसका उत्तर है) नहीं। द्वैतभेद के कारण सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी भी किसी भी पदार्थ की असत्ता नहीं है (छा. भा. ६.२.३)। **(२५.२)**

'सद् एव सोम्य इदम् अग्र आसीत'-सोम्य! यह पहले सत् ही था (छा.६.२.१)। **(२५.२)**

'स्वप्नदृश्य जैसे जाग्रद्दृश्य भी असत् है। इसके बारे में शंका नहीं की जा सकती... वह मिथ्या ही है-***जाग्रद् दृश्यानामपि.... असत्त्वं स्वप्नदृश्यवत् अनाशंकनीयम्.....मिथ्यैव ते।*** (मां. का. भा. २.७)। **(२५.२)**

'यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति एवं कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति'-जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता, उसी प्रकार, कार्य जगत् भी तीनों कालों में सत्ता से व्यभिचरित नहीं होता है (सू.भा. २.१.१६)। **(२५.२)**

'नामरूपोपाध्यस्तित्वे-एकमेवाद्वितीयम् नेह नानास्ति किञ्चन इति श्रुतय: विरुध्येरन्निति चेत्? न।

यदा तु परमार्थ दृष्ट्या........मृदादिविकारवद्वस्त्वन्तरे तत्त्वतो न स्तः.........तदा तदपेक्ष्य एक- मेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादि परमार्थदर्शनम्......यदा तु अविद्यया.....नामरूपोपा- धिदृष्टिरेव च भवति स्वाभाविकी, तदा सर्वोऽयं वस्त्वन्तरास्तित्वव्यवहारः' –किन्तु नाम–रूप उपाधि की सत्ता स्वीकार करने पर तो एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं है, इन श्रुतियों से विरोध होगा ऐसा कहें तो? नहीं। जब परमार्थदृष्टि से मृत्तिकादि के विकार के समान ही परमात्मतत्त्व से वस्तुतः भिन्न कोई पदार्थ नहीं रहते, तब उस दृष्टि की अपेक्षा से ही एक ही अद्वितीय है, यहाँ नाना कुछ नहीं है इस परमार्थदर्शन का बोध होता है। परन्तु जब स्वाभाविकी अविद्या के कारण नाम–रूप उपाधि की ही दृष्टि रहती है, तब उस समय यह ब्रह्म से भिन्न वस्तु की सत्ता से सम्बन्ध रखनेवाला सारा व्यवहार होता है। (बृ.भा.३.५.१) **(२५.२)**

'नेह नानास्ति किञ्चन' –(ब्रह्म में) किंचित भी नानात्व नहीं (बृ.४.४.१८) **(२५.२)**

एक प्रमाण दूसरे प्रमाण के विरुद्ध नहीं होता है; दूसरे को जो विषय नहीं है उसी को वह समझाता है– ***'न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयमेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति'*** (बृ.भा.२.१.२०)। **(२५.२)**

अपने से अलग जो कुछ अन्य दिखायी देता है वह अविद्याकृत होने से, विद्या के द्वारा उसका अवस्तुत्व दिख पड़ता है। मोतियाबिन्द रहित नेत्रवान् को जो नहीं दिखायी पड़ता वही द्वितीयचन्द्र का असत्त्व है– ***'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिः। तद्धि द्वितीयचंद्रस्य असत्त्वं यद् अतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते'*** (तै भा. २.८७)। **(२५.२)**

'जो ब्रह्म, क्षत्र (लोक, देवता, भूत, या कुछ भी) को आत्मा से अलग देखता है, उस मिथ्यादर्शी का वही मिथ्यादृष्ट जगत् निराकरण कर देता है', कहकर भेददृष्टि की निन्दा करके 'ये सब कुछ आत्मा ही है', इस प्रकार सर्ववस्तुजात की आत्मा से अभिन्नत्त्व की अवतरणिका की है– ***'यो हि ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् आत्मनो अन्यत्र स्वातन्त्र्येण लब्धसद्भावं पश्यति तं मिथ्यादर्शिनं तद् एव मिथ्यादृष्टं ब्रह्मक्षत्रादिकं जगत् पराकरोति इति भेददृष्टिम् अपोद्य इदं सर्वं यद् अयमात्मा इति सर्वस्य वस्तुजातस्य आत्माव्यतिरेकम् अवतारयति'*** (सू.भा.१.४.१९)। **(२५.२)**

'एकम् एव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म इह पुनः व्यवहारविषयम् आपेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षया उदकादि सत्यम् उच्यते। अनृतं च तद् विपरीतम्। किं पुनः एतत् सर्वम् अभवत्? सत्यं परमार्थसत्यम्' –परमार्थ सत्य एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो व्यवहारविषयक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है। उससे विपरीत (मृगतृष्णा) को अनृत कहा जाता है। तो फिर यह सब भी क्या हो गया? सत्य, परमार्थसत्य (तै.भा.२.६.१)। **(२५.३)**

इतना ही नहीं, व्यवहार भी मिथ्या नहीं है। ज्ञानी के लिये सर्वव्यवहार और सर्वविकार सद्रूप से देखने के कारण सत्य ही है– ***'सदात्मना सत्यत्व अभ्युपगमात्.......सर्वव्यवहाराणां सर्वविकाराणां च सत्यत्वं'*** (छा.भा. ६.३.२)। **(२५.३)**

Maha Parivrajaka

आत्मज्ञान से पूर्व, उत्पत्ति और प्रलय अपने से भिन्न सत् से होते थे। किन्तु अब, सत् का आत्मत्व ज्ञात होने पर वे अपनी आत्मा से ही होने लगे। इसी प्रकार ज्ञानी का और भी सब व्यवहार आत्मा से होने लगता है–***'प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मनः अन्यस्मात् सतः..........उत्पत्तिप्रलयौ अभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहारः आत्मनः एव विदुषः'*** (छा.भा. ७.२६.१) **(२५.३)**

अविद्यायुक्त जीव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव ब्रह्म से अलग नहीं है, लेकिन ब्रह्म उससे अलग है। ***'परमात्मनः जीवाद् अन्यत्वं, जीवस्य तु न परस्माद् अन्यत्वम्'*** (सू.भा. १.३.१९)। **(२५.४)**

ब्रह्म ने अपने को ब्रह्म समझा–***'आत्मानम् एवावेत् अहंब्रह्मास्मि इति'*** इसके भाष्य में कहा है–***'ब्रह्मणि अविद्यानुपपत्तिः इति चेत्? न। ब्रह्मणि विद्या विधानात्।........न ब्रूमः............ब्रह्मणि अतद्धर्माध्यारोपणा नास्तीति। किं तर्हि? न ब्रह्म स्वात्मनि अतद्धर्माध्यारोपण निमित्तम् अविद्याकर्तृ च इति। भवतु एवं न अविद्याकर्तृ भ्रान्तं च ब्रह्म। किंतु न एव अब्रह्म अविद्याकर्ता चेतनो भ्रान्तोऽन्यः इष्यते'*** किन्तु ब्रह्म में अविद्या होना ही असंगत है? नहीं, क्योंकि ब्रह्म में विद्या का विधान किया गया है। पूर्वपक्षी:– हम यह नहीं कहते कि ब्रह्म में अब्रह्म के धर्मों का आरोप नहीं है। तो फिर क्या कहते हैं? यही कि ब्रह्म अपने में अब्रह्म धर्मों के आरोप का निमित्त और अविद्या करने वाला नहीं है। सिद्धान्ती:–यह हो सकता है कि ब्रह्म अविद्या का कर्ता और भ्रान्त न हो, किंतु अविद्या का कर्ता कोई अन्य अब्रह्म भ्रान्त चेतन है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। (बृ. भा.१.४.१०) **(२५.४)**

'देहादि संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः। आत्मनः माया अविद्या, तया प्रत्युपस्थापिताः'–देहादि संघात आत्ममाया विसर्जित है। आत्मा की माया है अविद्या जिससे वे सामने उपस्थापित है' (मा. का. भा. ३.१०) **(२५.४)**

'पर एव आत्मा यः पूर्वं सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः.....संघाताः आत्ममाया विसर्जिताः सत्यं ज्ञानं अनन्तं' ब्रह्म ही प्रकृत पर आत्मा है। उसी आत्मा से विसर्जित संघात आत्ममाया विसर्जित संघात है (मा. का. भा. ३.११) **(२५.४)**

'अहंकार इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्'–अहंकार का अर्थ है अव्यक्त से संयुक्त अविद्या। (गीता. भा. ७.४) **(२५.४)**

'अविद्यादि अनेकसंसारबीजम् अन्तर्दोषवत् माया'–माया में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छुपे हुये हैं। (गी.भा. १२.३) **(२५.४)**

'प्रकृतिस्थत्वाख्या अविद्या संसारस्य कारणम्'–प्रकृति में छुपी हुयी अविद्या संसार का कारण है। (गी.भा. १३.२१) **(२५.४)**

'प्रकृत्या......अविद्यारूपः संयोगः संसारः'–संसार का कारण है प्रकृति से अविद्या का संयोग। (गी. भा. १३.२०) **(२५.४)**

'अविद्या विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापकः अग्रहणात्मको वा'–अग्रहण, संशय या अन्यथाग्रहण अविद्या है। (गी.भा. १३.२)।**(२५.४)**

'यदि ज्ञानाभावः यदि संशयज्ञानं यदि विपरीतज्ञानं वा उच्यते अज्ञानम् इति, सर्वं हि तत् ज्ञानेन एव निवर्त्यते'–चाहे ज्ञानाभाव हो, चाहे संशयज्ञान हो, चाहे विपरीतज्ञान हो, जिसको भी अज्ञान कहा जाता है, वे सब अज्ञान से ही निवृत्त होते हैं। (बृ.भा. ३.३.१)।**(२५.४)**

'रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'–वह रूप रूपके प्रतिरूप हो गया। इसके रूप समझाने के लिये।**(२५.४)**

'यदि हि नामरूपे न व्याक्रियेते, तदा अस्य आत्मनो निरुपाधिकं रूपं प्रज्ञानघनाख्यं न प्रतिख्यायेत' यदि नामरूपों की अभिव्यक्ति नहीं हुयी होती तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरुपाधिक रूप समझ में नहीं आता। (बृ.भा. २.५.१९)।**(२५.४)**

'प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थ- कर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते'–समस्त कार्य करण और विषयों के आकार में परिणत हुयी त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये देह–इन्द्रियादि आकार से मूर्तिमान होती है (गी.भा.१३ का संबंधभाष्य)।**(२५.४)**

' नित्येश्वरत्वाद् ईश्वरस्य तत्प्रकृत्योः अपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्वम् एव हि ईश्वरस्य ईश्वरत्वम्'–ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होने के कारण उसकी दोनों प्रकृतियों का भी नित्य होना उचित ही है, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है (गी.भा.१३.१९)।**(२५.४)**

'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–ईश्वर ने यथापूर्व सृष्टि की (ऋ.संहिता १०.१९०.३)।**(२५.४)**

' य एव अविद्यादिदोष निवृत्ति फलकृत्प्रत्ययः आद्यः अन्त्यः सन्ततः असन्ततो वा स एव विद्या'–जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों की निवृत्तिरूप फल प्रदान करने वाला हो, वह आद्य, अन्त्य, संतत, असंतत, कैसा भी हो, वही विद्या है (बृ.भा. १.४.१०)।**(२५.४)**

'आत्मविषयं विज्ञानं यत्कालम्, तत् काले एव तद्विषय-अज्ञानतिरोभावः स्यात्। अतः ब्रह्मविद्यायां सत्याम् अविद्याकार्यानुपपत्तेः प्रदीप इव तमः कार्यस्य'–जिस समय आत्मविषयक ज्ञान होता है उसी समय तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अतः जिस प्रकार दीपक के रहते हुये अन्धकार का कार्य नहीं रहता उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के रहते हुये अविद्या का कार्य नहीं रह सकता (बृ.भा.१.४.१०)।**(२५.४)**

'अहम् अन्नम् अहम् अन्नादः अहं श्लोककृत्'–मैं अन्न हूँ, मैं अन्न को खाने वाला हूँ, मैं अन्न और खाने वाले का संयोग करने वाला ईश्वर हूँ। (तै.अ.१०.६); *'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'*–मैं मनु और सूर्य हूँ। (बृ. १.४.१०); *'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः'*–विद्वान्

और विनीत ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल, ज्ञानी इन सबको समदृष्टि से देखते हैं। (गीता. ५.१८)। **(२५.५)**

ब्रह्मसूत्रों का दिग्दर्शन

यह ठीक है कि वाणी से, मन से, आँख से या और किसी इन्द्रिय से उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, चूँकि यह ज्ञात है कि वह जगत् का कारण है, वह (ब्रह्म) है ही। ***'नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते इत्यर्थः। तथापि सर्वविशेष रहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)'*** (क.भा. २.३.१२)। **(१)**

'ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्त है इस यथोक्त लक्षणवाले आत्मा के ज्ञान के लिये ही ब्रह्म में अनेक होना, सृष्टि में अनुप्रवेश करना, आनन्द की प्राप्ति, अभय और संक्रमणादि संपूर्ण व्यवहार की कल्पना की गयी है-***'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म इति यथोक्तलक्षण आत्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवन सर्गप्रवेश-रसलाभ-अभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वं व्यवहार विषये'*** (तै.भा.२.८.५)। **(१)**

'न असत्त्वं कस्यचित् क्वचित'-कुछ भी कभी भी असत् नहीं (छा.भा. ६.२.३) **(१)**

'सदेव सोम्येदमग्रासीत् एकमेवाद्वितीयं..........तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'-हे सोम्य! आरम्भ में यह (जगत्) एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस सत् ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊं-अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं'। उसने तेज उत्पन्न किया (छा.६.२१.१-३)। **(१)**

'यत् तु उक्तं परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्।......... आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्।..........को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्, इयं विसृष्टिर्यत आबभूव इति चेते ऋचौ सिद्धानाम् अपि ईश्वराणां दुर्बोधतां जगत्कारणस्य दर्शयतः.......न अनेन मिषेण शुष्कतर्कस्य अत्र आत्मलाभः संभवति'-जो यह कहा गया है कि सिद्धवस्तु होने से ब्रह्म में अन्य प्रमाणों का संभव होगा, वह भी मनोरथमात्र है। ब्रह्म तो धर्म के समान केवल आगममात्र से अधिगम्य है। यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुयी है 'कौन साक्षात् उसे जानता है और कौन उसे ठीक-ठीक समझा सकता है?' (ऋ.स.१/३०/६), ये दोनों ऋचाएं जगत् के कारण के विषय में सिद्ध ईश्वरों का भी दुर्विज्ञेयत्व दिखलाती हैं। (अन्य प्रमाणों की संभावना को बताने वाले श्रुतिवचन) के बहाने यहाँ शुष्क तर्क का होना संभव नहीं है' (सू .भा. २.१.६)। **(१)**

जिज्ञासाधिकरण

पुरुषसामान्य को अन्वय होने वाले जप, उपवास, देवताराधन आदि धर्मविशेषों के कारण विद्या का अनुग्रह होता है-***'पुरुषमात्रसम्बन्धिभिः जपोपवासदेवताराधनादिभिः धर्मविशेषैः अनुग्रहः विद्यायाः सम्भवति'*** (सू.भा. ३.४.३८)। **(२.१)**

'हृदयस्य अग्रे अवद्यति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः'–पहले हृदय के अग्र भाग को काटना है, फिर जीभ को और फिर छाती को (तै. सं. ६.३.१०.१०) **(३.१)**

'तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन'–इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं (बृ. ४.४.२२)। **(५.१)**

'न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यम् पुरुषः अश्नुते'–कर्मों का आरंभ किये बिना (अर्थात् न करने से) पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता (गीता ३.४)। **(५.१)**

पूर्वपक्षीः किन्तु ज्ञात न होने में समान होने के कारण, आत्मा और अनात्मा दोनों ही ज्ञातव्य हैं। फिर ***'आत्मेत्येवोपासीत'*** इस कथन के अनुसार आत्मोपासना में ही क्यों यत्न करने की आस्था की जाये, अनात्मोपासना में क्यों नहीं? **सिद्धान्तीः** इस पर हमारा कथन है कि यह प्रकृत आत्मा ही पदनीय, अर्थात् गन्तव्य है, अन्य अनात्मा नहीं। श्लोक में आये ***'अस्य सर्वस्य'*** है इन पदों में निश्चयार्थिका षष्ठी है; इसका तात्पर्य है ***'अस्मिन् सर्वस्मिन्'*** (इस सब में)। ***'यदयात्मा'*** का अर्थ होता है जो यह आत्मतत्त्व है (वह सबमें है)।

तो क्या अन्य (अनात्मा) ज्ञातव्य नहीं है? ऐसी बात नहीं है। तो क्या है? ज्ञातव्य होने पर भी उसे जानने के लिये आत्मज्ञान से भिन्न कोई अलग ज्ञान नहीं चाहिये। क्यों नहीं चाहिये? क्योंकि इस आत्मा को जान लेने पर अन्य जो कुछ अनात्मजात है, उस सबको पुरुष जान लेता है-***अनिर्ज्ञातत्वसामान्यात् आत्मा ज्ञातव्यः अनात्मा च। तत्र कस्मात् आत्मोपासने एव यत्न आस्थीयते 'आत्मेत्येवोपासीत' इति, न इतर विज्ञाने इति? अत्र उच्यते–तद् एतद् एव प्रकृतं पदनीयं गमनीयं न अन्यत्। 'अस्य सर्वस्य' इति निर्धारणार्था षष्ठी। अस्मिन् सर्वस्मिन् इति अर्थः। 'यदयमात्मा' यदेतदात्मतत्त्वम्। किं न विज्ञातव्यम् एव अन्यत्? न। किं तर्हि, ज्ञातव्यत्वे अपि न पृथग्ज्ञानान्तरम् अपेक्षते आत्मज्ञानात्। कस्मात्? अनेनात्मना ज्ञातेन हि यस्माद् एतत् सर्वम् अनात्मजातम् अन्यद् यत् तत् सर्वं समस्तं वेद जानाति*** (बृ. भा. १.४.७)। **(९.१)**

'अविद्ययैव अनात्मत्वं परिकल्पितं, न तु परमार्थतः आत्मव्यतिरेकेण अस्ति किंचित्'–अविद्या से ही अनात्मत्व परिकल्पित है, परमार्थतः तो, आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं है। (बृ. भा. २.४.१४) **(९.१)**

'अप्राप्य मनसा सह'–ब्रह्म मन से भी अप्राप्य है (तै २.४)। **(११.१)**

'मनसैवानुद्रष्टव्यम्'–ब्रह्म को मन से ही देखना चाहिये (बृ.४.४.१९)। **(११.१)**

'अत्यन्तनिर्मलत्व अतिस्वच्छत्व अतिसूक्ष्मत्व उपपत्तेः आत्मनः बुद्धेः च आत्मसमनैर्मल्याद् उपपत्तेः आत्मचैतन्याकाराभासत्व उपपत्तिः'–आत्मा अतिनिर्मल, अतिस्वच्छ और अतिसूक्ष्म है। आत्मा के ही समान निर्मल, स्वच्छ और सूक्ष्म बुद्धि आत्मचैतन्य के आकार से आभासित हो सकती है (गी.भा. १८.५०)। **(११.२)**

'अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितं....ज्ञानं....ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणा अभिन्नं....सत्यं ज्ञानं अनन्तम् इत्यादि श्रुतिभ्यः'-*सर्वकल्पनारहित....ज्ञान.....परमार्थसद्रूप* ज्ञेय ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सत्य-ज्ञान-अनन्त ब्रह्म इत्यादि श्रुति ही इसमें प्रमाण है (मां. का. भा. ३.३३)। **(११.२)**

'ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्म ज्ञेयम्'-जो ब्रह्म अपने को ज्ञेय है वह ज्ञेयब्रह्म है (मा. का. भा. ३.३३)। **(११.३)**

'यह जल के समान स्वच्छ है, अद्वितीय है। इसलिये यही अभय यही परमात्मा है। यही जीव की परमगति है, परमसंपत्ति है, परमलोक है, परमानन्द है-***सलिल एको द्रष्टाद्वैतो भवति.....एषास्य परमागतिः एषास्य परमासंपत् एषोऽस्य परमो लोकः एषोऽस्य परम आनन्दः'*** (बृ.४.३.३२)। **(११.४)**

'तेन आत्मस्वरूपेण अजेन ज्ञानेन अजं ज्ञेयम् आत्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यते'-वह ज्ञान अज है, अपना स्वरूप है, अज ज्ञेय के द्वारा 'आत्मतत्त्व स्वयं है' इस प्रकार समझता है, निश्चय करता है (मा. का. भा. ३. ३३)। **(११.४)**

'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'-बहुत जन्मों के अन्त में ज्ञानी मुझे प्राप्त करता है (गीता ७.१९)। **(११.४)**

'ब्रह्म विजिज्ञासस्व'-ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा करो (तै. भा.३.१) **(११.५)**

'जैसे धर्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि प्रमाण है, ब्रह्मजिज्ञासा में उस प्रकार नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा में तो श्रुति आदि और अनुभव आदि यथासंभव प्रमाण होते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान सिद्धवस्तुविषयक है और ब्रह्मज्ञान की चरमसीमा अनुभव है-***न धर्मजिज्ञासायाम् इव श्रुत्यादयः एव प्रमाणम् ब्रह्मजिज्ञासायाम् किन्तु श्रुत्यादयः अनुभवादयः च यथासम्भवम् इह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।'*** (सू.भा. १.१.२) **(११.५)**

'ब्रह्म अयम् आत्मा। कोऽसौ? यः प्रत्यगात्मा द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा विज्ञाता'-ब्रह्म यह आत्मा ही है। यह आत्मा कौन है? जो प्रत्यगात्मा, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा (जाननेवाला)और विज्ञाता है (बृ.भा. २.५.१९)। **(१२.१)**

अविद्या के कारण जाग्रत् में अन्तःकरण, चक्षु और रूप आपस में अलग-अलग उपस्थापित रहते है। इसलिए विशेषज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन ब्रह्म से ये तीनों अभिन्न हैं। अतः एव चैतन्यस्वभाव का होने पर भी ब्रह्म में विशेषज्ञान नहीं है। इसी कारण से जब प्रत्यगात्मा को सुषुप्ति में ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है, तब उसे विशेषज्ञान नहीं होता।-***यद् हि तद् विशेषदर्शनकारणम् अन्तःकरणं चक्षुः रूपं च, तदविद्यया अन्यत्वेन प्रत्युपस्थापितमासीत्। तदेतस्मिन् काले एकीभूतम् आत्मनः परेण परिष्वंगात्। ....अयं तु सर्वात्मना संपरिष्वक्तः स्वेन परेण प्राज्ञेन आत्मना प्रिययेव पुरुषः। तेन न पृथक्त्वेन व्यवस्थितानि करणानि विषयाश्च। तदभावात् विशेषदर्शनं नास्ति।*** (बृ. भा. ४.३.२३) **(१२.१)**

Maha Parivrajaka

जन्माद्यधिकरण

'एतत् अप्रमयम्'–यह अप्रमेय है (बृ.४.४.२०) **(१)**

'अद्रेश्यम् अग्राह्यम्'–अदृश्य, अग्राह्य है (मु.१.१.६) **(१)**

'अप्राप्य मनसा सह'–मन से भी अप्राप्य है (तै.२.४) **(१)**

'ठीक है, वाणी से हो, मन से हो, आंख से हो या अन्य इन्द्रियों से हो, इसका ज्ञान साध्य नहीं है। परन्तु इस प्रकार सर्वविशेषरहित होने पर भी, यह तो ज्ञात है ही कि ब्रह्म जगत्कारण है। इसलिये वह है ही– ***नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा न अन्यैः अपि इन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यते। तथापि सर्वविशेषरहितः अपि जगतः मूलम् इति अवगतत्वात् अस्ति एव (ब्रह्म)'*** (क.भा.२.३.१२)। **(१)**

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'–ईश्वर ने इस सूर्य चन्द्रादि रूप जगत् की पहले के समान सृष्टि की (ऋ.स.१०.१९०.३) **(१.१)**

'परमात्मा से यह जगत्, अग्नि से विस्फुलिङ्गों के समान सदा उत्पन्न होता रहता है, जिस परमात्मा में ही जल में बुलबुले के समान यह लीन हो जाता है तथा स्थितिकाल में जिसके स्वरूप से वर्तमान रहता है–***आत्मनः स्थावरजङ्गमं जगदिदम् अग्निविस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरति अनिशम्, यस्मिन् एव च प्रलीयते जलबुद्बुदवत् यदात्मकं च वर्तते स्थितिकाले'*** (बृ.भा.२.१.२०)। **(१.१)**

'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय'–वह रूप रूप के प्रतिरूप हो गया, उसके रूप को समझाने के लिये (बृ.२.५.१९)। **(१.१)**

'आत्मा ह्याकाशवज्जीवैः घटाकाशैरिवोदितः। घटादिवच्च संघातैः जातावेतन्निदर्शनम्'– घटाकाश जैसे जीवों के रूप से, घटादि जैसे संघातों के रूपों से आत्मा पैदा होता है। पैदा होने के लिए यह दृष्टान्त है। (मां. का. भा. ३.३)। **(२.२)**

'सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्'–व्यावहारिक प्रातिभासिक सत्यरूपी जगत् पारमार्थिक सत्य ही है। (तै भा. २.६)। **(२.२)**

'क्षेत्रज्ञं च अपि मां विद्धि'–क्षेत्रज्ञ भी मैं ही हूँ (गी. १३.२)। **(२.२)**

'परमात्मनः तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्'–परमात्मा में स्वरूपाश्रय से उदासीनता है और माया के आश्रय से प्रवृत्ति है (सू. भा. २.२.७)। **(२.२)**

यहाँ माया का अर्थ है प्रवृत्ति का कारण–अहंकार, अर्थात् अविद्यासंयुक्त अव्यक्त–***'अहंकारः इति अविद्यासंयुक्तम् अव्यक्तम्........., प्रवर्तकत्वात् अहंकारस्य'*** (गी. भा. ७.४)। **(२.२)**

'ब्रह्म जीवरूप से अनुप्रवेश करके नामरूपों को प्रकट करता है–***अनेन जीवेनात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'*** (छा.६.३.२)। **(२.२)**

Maha Pariyraja

जगत् सर्वदा है। ***'कार्यम् अपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति'*** (सू.भा.२.१.१६)। **(३.१)**

'सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वा अभिवदन् यदास्ते'–वह धीर सारे रूपों को व्याकृत करके उनके नाम रखकर बुला रहा है (तै.आ.३.१२.७)। **(४.१)**

'सः अकामयत'–उसने इच्छा की (तै.२.६)। **(४.१)**

'सः ईक्षत, सः ईक्षांचक्रे'–उसने देखा (ऐ १.१.१; प्र ६:३)। **(४.१)**

गणना के लिये मिलने वाला सापेक्षकाल ब्रह्म है–***'कालः कलयताम् अहम्'*** (गी. १०.३०)। **(४.२)**

जिसकी गणना नहीं की जा सकती वह अक्षयकाल भी ब्रह्म ही है–***'अहम् एव अक्षयः कालः'*** (गी. १०. ३३)। **(४.२)**

जैसे–जैसे घटनाओं का विकास होता है अक्षयकाल ही सापेक्षकाल के रूप में व्यक्त होने लगता है–***'कालः अस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः'*** (गी. ११.३२)। **(४.२)**

'प्रागुत्पत्तेः अव्याकृतनामरूपभेदम् आत्मभूतम् आत्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं जगत् इदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वात् अनेकशब्दप्रत्ययगोचरम् आत्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं च'–उत्पत्ति से पूर्व यह आत्मभूत जगत् नामरूपादिभेद व्यक्त न होने के कारण एक '*आत्मा*' शब्द की प्रतीति का ही विषय था और इस समय नामरूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय तथा एकमात्र '*आत्मा*' शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है (ऐ भा. १.१.१)। **(४.२)**

'यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यम् अस्ति सः असर्वज्ञः इति विप्रतिषिद्धम्'–सब पदार्थों को प्रकाशित करने वाला जिसका ज्ञान नित्य है उसे असर्वज्ञ कहना विरुद्ध है (सू.भा. १.१.५)। **(४.४)**

'सर्वज्ञ स्वभाव है–***सः सर्वज्ञस्वभावः'*** (ऐ.भा.१.१.१) **(४.४)**

'सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः'–ज्ञानी को सर्वज्ञत्व सदा यहाँ है (मां. का. भा. ४.८९)।

'सा शक्तिः ब्रह्म एव अहं शक्तिशक्तिमतोः अनन्यत्वात्'–वह शक्ति ब्रह्म ही मैं हूँ क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं होता (गी. भा. १४.२७) **(४.५)**

'मम स्वभूता मदीया माया'– मेरी स्वरूपभूत मेरी माया (गी. भा. १४.३) इत्यादि। **(४.५)**

'न च गिरिनदी समुद्रादिषु नानाविधेषु नामरूपेषु अनीश्वरस्य जीवस्य व्याकरणसामर्थ्यम् अस्ति'–गिरि, नदी, समुद्र आदि नाना प्रकार के नाम और रूपों की सृष्टि करने का सामर्थ्य अनीश्वर जीव में नहीं है (सू.भा.२. ४.२०)। **(६.१)**

इस अव्यक्त में जीवों के अविद्यादि अनेक संसारबीजदोष छिपे हैं–***'अविद्याद्यनेकसंसारबीज- रूपमन्तर्दोषवत् माया'*** (गी. भा. १२.३)। **(६.२)**

Maha Parivrajaka

परमार्थदृष्टि में जगत् प्रकृति से अनन्य है और प्रकृति ब्रह्म से अनन्य है–***'कारणस्य आत्मभूता शक्तिः, शक्तेः च आत्मभूतं कार्यं'*** (सू.भा.२.१.१८)। **(६.२)**

'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है ऐसा कहनेवाली सैकड़ों श्रुतियां भी प्रमाण नहीं मानी जा सकती हैं। यदि श्रुति कहे कि 'अग्नि ठण्डी है अथवा अप्रकाशक है' तो ऐसा मान लेना चाहिये कि श्रुति को कोई और ही अर्थ अभीष्ट है, क्योंकि किसी अन्य प्रकार से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों के विरुद्ध या श्रुति के अपने वचनों के विरुद्ध श्रुति के अर्थ की कल्पना करना उचित नहीं है–***न हि श्रुतिशतम् अपि शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति ब्रुवत् प्रामाण्यम् उपैति। यदि ब्रूयात् शीतः अग्निः अप्रकाशो वा इति तथापि अर्थान्तरं श्रुतेः विविक्षितं कल्प्यं प्रामाण्य-अन्यथा-अनुपपत्तेः न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा'*** (गी.भा. १८.६६)। **(८.४)**

'एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता। जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती उसी को दूसरा प्रमाण समझाता है। तथा लौकिक पद और पदार्थों का आश्रय लिये बिना शास्त्र के द्वारा किसी अज्ञातस्त्वन्तर को नहीं जाना जा सकता–***न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते, प्रमाणान्तराविषयम् एव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति। न च लौकिकपदपदार्थाश्रयव्यतिरेकेण आगमेन शक्यम् अज्ञातं वस्त्वन्तरम् अवगमयितुम्'*** (बृ.भा. २.१.२०)। **(८.५)**

'ब्रह्म सिद्धवस्तु होने से उसमें अन्य प्रमाण संभव हो सकते हैं, ऐसा जो कहा है, वह भी मनोरथमात्र ही है, क्योंकि रूपादि का अभाव होने के कारण ब्रह्मवस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है और लिंगादि के अभाव के कारण अनुमान आदि का विषय नहीं है। यह अर्थ तो धर्म के समान आगममात्र से ही ज्ञातव्य है–***यत् तु उक्तम् परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुः इति तदपि मनोरथमात्रम्। रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः। लिङ्गाद्यभावाच्च न अनुमानादीनाम्। आगममात्रसमधिगम्य एव तु अयम् अर्थः धर्मवत्'*** (सू. भा. २.१.६)। **(८.५)**

'यहाँ श्रुति से अनुग्रहीत तर्क का अनुभव के सहायक रूप से ग्रहण किया गया है। स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था इन दोनों में परस्पर व्यभिचार होने के कारण आत्मा (प्राज्ञ) इनसे संस्पृष्ट नहीं है, सुषुप्ति में प्रपंच का परित्याग होने से आत्मा सत्स्वरूप आत्मा के साथ एक होकर निष्प्रपंच ब्रह्मस्वरूप हो जाती है। प्रपंच ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है; अतः कार्य कारण से अभिन्न है, इस न्याय से ब्रह्म से प्रपंच अभिन्न है, इस प्रकार का तर्क अंगीकृत होता है–***श्रुत्यनुगृहीत एव हि अत्र तर्कः अनुभवाङ्गत्वेन आश्रीयते। स्वप्नान्तबुद्धान्तयोः उभयोः इतरेतर व्यभिचारात् आत्मनः अनन्वागतत्वम्, संप्रसादे च प्रपञ्चपरित्यागेन सदात्मना संपत्तेः निष्प्रपञ्चसदात्मकत्वम्, प्रपञ्चस्य ब्रह्मप्रभवत्वात् कार्यकारणानन्यत्वन्यायेन ब्रह्माव्यतिरेक इति एवं जातीयकः'*** (सू.भा. २.१.६)। **(८.५)**

'यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेदनान्तरं'–स्त्री से आलिंगित (पुरुष) अंदर या बाहर कुछ नहीं जानकर (बृ. ४.२.३२) **(१०.१)**

सुषुप्त्यानन्द ही ब्रह्म का स्वरूपलक्षण आनन्द है–***एषोऽस्य परम आनन्दः*** (बृ. ४.३.३२) **(१०.१)**

'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म.....तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः सम्भूतः'–ब्रह्म सत्यज्ञान और अनन्त है। उस इस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ (तै.२.१)। **(१०.१)**

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेव अद्वितीयम्.....तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत'–हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षण किया कि 'मैं बहुत हो जाऊं, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊं' (छा.६.२.१-३)। **(१०.१)**

'दिव्यो हि अमूर्तः पुरुषः........अप्राणो हि अमनाः शुभ्रः..........एतस्मात् जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च'–ब्रह्म दिव्य, अमूर्त, पुरुष, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध है। इससे ही प्राण, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं (मु.२.१.२-३)। **(१०.१)**

'आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्........स इमाल्लोकानसृजत'–पहले यह जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उस (आत्मा) ने ही इन लोकों की रचना की (ऐ १.१.१-२) **(१०.१)**

शास्त्रयोनित्वाधिकरण

'सदेव सोम्येदमग्रासीत् –हे सोम्य! यह सब पहले सत् ही था' (छा.६.२.१)।

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत, अव्यक्तनिधानि एव'–हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त थे, बीच में व्यक्त होते हैं और मरण के बाद फिर अव्यक्त हो जाते हैं (गीता. २.२८)।

'प्रलीयमानमपि च इदं जगत् शक्त्यवशेषम् एव प्रलीयते। शक्तिमूलम् एव च प्रभव'–जगत् का प्रलय होने पर भी इसकी शक्ति शेष रहती है। इसी शक्ति से वह फिर प्रकट होता है (सू.भा. १.३.३०)

'एते इति वै प्रजापतिः देवानसृजत, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्दव इति पितॄन्, तिरः पवित्रमिति ग्रहान्, आशव इति स्तोत्रं, विश्वानि इति शस्त्रं, अभिसौभगेति अन्याः प्रजाः'–'एते' कहकर प्रजापति ने देवताओं की सृष्टि की, 'असृग्रम्' से मनुष्यों की, 'इंदव' से पितरों की, 'तिरः पवित्रं' से ग्रहों की, 'आशव' से स्तोत्र को, 'विश्वानि' से शस्त्र की और अभिसौभग से अन्य प्रजाओं की (ताण्ड्य ब्राह्मण ६.९.१५)।

'वेद की यह सृष्टि सम्प्रदायप्रवर्तन रूप ही है, क्योंकि अनादि और अनन्त वेद की और किसी प्रकार से उत्पत्ति नहीं हो सकती–***उत्सर्गः अपि अयं वाचः संप्रदायप्रवर्तनात्मकः द्रष्टव्यः अनादि निधनायाः अन्यादृशस्य उत्सर्गस्य असम्भवात्'*** (सू.भा. १.३.२८)।

'जीवस्य..........ईश्वर समानधर्मत्वं..........विद्यमानम् अपि, तत् तिरोहितम् अविद्यादि व्यवधानात्'–जीव में ईश्वर के समान धर्म रहने पर भी वह अविद्यादि व्यवधान के कारण छुपा रहता है (सू.भा. ३.२.५)।

'ईश्वरस्य नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्'–ईश्वर सर्वकाल में अविद्या से मुक्त है (सू.भा. ३.२.९)

'इमे वेदाः यदयमात्मा'–ये वेद यह आत्मा ही हैं (बृ.२.४.६)।

'श्रुत्यादयः अनुभवादयः च इह प्रमाणम्'–श्रुति आदि और अनुभव आदि यहाँ प्रमाण हैं (सू.भा.१.१.२)

समन्वयाधिकरण

'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'–भूतिकाम वायुदेवता को सफेद भेड़ की बलि दे (तै. संहिता २.१.१) **(१)**

'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति'–वायु ही क्षिप्रतम देवता है। अपने भाग से वायु के पास ही पहुंचता है। वही इस को भूति दिलाता है (तै. संहिता २.१.१)।**(१)**

'सोऽरोदीत् यदरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्'–वह रोया। रोने के कारण उसका नाम रुद्र है (तै. स. १.५.१)।

'श्रुत्यवगाह्यम् एव इदम् अतिगम्भीरं ब्रह्म न तर्कावगाह्यम्'–यह अतिगम्भीर ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है, तर्क से नहीं (सू.भा. २.१.३१)।**(२.१)**

'यत्र सर्वम् आत्मा एव अभूत् तत् केन कं पश्येत्, तत् केन कं श्रृणुयात्'–जहाँ सब आत्मा ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसको सुने (बृ.४.५.१५) **(३.१)**

निपुण मति वाले जिनको अज्ञान, संशय, या विपर्ययरूप 'तत्' 'त्वम्' पदार्थविषयक प्रतिबन्ध नहीं हैं, वे एक बार में ही 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ अनुभव कर लेते हैं–*'येषां पुनः निपुणमतीनां न अज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धः अस्ति ते शक्नुवन्ति सकृत् उक्तम् एव तत्त्वमसिवाक्यार्थम् अनुभवितम्* (सू.भा. ४.१.२)।**(६.१)**

'बाह्याकार भेदबुद्धिनिवृत्तिः एव आत्मस्वरूपालम्बने कारणम्'–बाह्य नानाकार भेदबुद्धि की निवृत्ति ही आत्मस्वरूप का आश्रय लेने में कारण है (गी.भा. १८.५०) **(१३.२)**

'विधिभिः एव इन्द्रादिदैवत्यानि हवींषि चोदयद्भिः अपेक्षितम् इन्द्रादीनां स्वरूपम्। नहि स्वरूपरहिताः इन्द्रादयः चेतसि आरोपयितुं शक्यन्ते'–इन्द्र आदि देवताओं को हवि देने की प्रेरणा करने वाली विधियाँ ही इन्द्रादि के स्वरूप की अपेक्षा रखती हैं। यदि इन्द्रादि देवता वस्तुतः स्वरूपरहित हो तो उनका ध्यान ही नहीं किया जा सकता (सू.भा. १.३.३३) **(१६.१)**

'शरीरारम्भक कर्म का फल निश्चित होने के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी वाणी, मन और शरीर की चेष्टा अवश्यम्भाविनी है, क्योंकि जो कर्म फलोन्मुख हो चुका है वह तो छूटे हुये बाण की प्रवृत्ति के समान अधिक बलवान् है–*शरीराम्भकस्य कर्मणो नियतफलत्वात् सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ अपि अवश्यम्भाविनी प्रवृत्तिः वाङ्मनःकायानाम् लब्धवृत्तेः कर्मणो बलीयस्त्वात् मुक्तेष्वादिप्रवृत्तिवत्'* (बृ.भा.१.४.७)। **(२२.१)**

Maha Parivrajaka

'सता तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति'–सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है (छा.६.८.१) **(२३.१)**

'पर आत्मनि संप्रतिष्ठते'–परमात्मा में स्थित हो जाता है (प्र.४.७) **(२३.१)**

'पहला हो, आखिरी हो, सन्तत हो, असन्तत हो, जो भी प्रत्यय अविद्यादि दोषों का निवारक हो, वही विद्या है–***य एव अविद्यादिदोषनिवृत्तिफलकृत्प्रत्यय: आद्य: अन्त्य: सन्तत: असन्ततो वा स एव विद्या'*** (बृ. भा. १.४.१०)। **(२८.२)**

'अजं ब्रह्म सर्वमित्येतत् शास्त्राचार्योपदेशत: अनुस्मृत्य तद्विपरीतं जातुं नैव तु पश्यति, अभावात्'–शास्त्राचार्य के उपदेश से ***'सब अज ब्रह्म ही है'*** इस प्रकार जब अनुस्मरण करता है, तब, उससे विरुद्ध कुछ नहीं देखता, क्योंकि ऐसा कुछ है ही नहीं। (मां. का. भा. ३.४३)। **(२८.३)**

'सोऽन्वेष्टव्य: स: विजिज्ञासितव्य:– उस आत्मा की खोज करनी चाहिये, उसकी विशेषरूप से जिज्ञासा करनी चाहिये' (छा. ८.७.१) **(२८.४)**

'कारणरहित कार्य में भी व्यवहार नहीं हो सकता–***न हि निरात्मकं किंचित् भूतं व्यवहाराय अवकल्पते'*** (गी.भा.९.४)। **(२८.५)**

'कारणरहित कार्य अभाव ही है–***कारण व्यतिरेकेण अभाव: कार्यस्य'*** (सू.भा.२.१.१४)। **(२८.५)**

'अन्यस्य च अविद्याकृतत्वे विद्यया अवस्तुत्वदर्शनोपपत्ति:। तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य असत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते'–अन्य पदार्थ (द्वैत) के अविद्याकृत होने पर ही अविद्या के द्वारा उसके अवस्तुत्वदर्शन की उपपत्ति हो सकती है। द्वितीय चन्द्र का असत्त्व यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रों वाले पुरुषों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता (तै.भा. २.८.५)। **(२८.५)**

'स्वरूपाश्रय से औदासीन्य और मायाश्रय से प्रवर्तकत्व है–***परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयम् औदासीन्यम् मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम्'*** (सू.भा. २.२.७)। **(२८.५)**

'आत्मविज्ञान से पहले अपने से अलग ईश्वर से प्राण से नाम तक पदार्थों की उत्पत्ति और प्रलय होते थे। सदात्मविज्ञान होने के बाद वे अपनी आत्मा से ही हो गये। इस प्रकार, ज्ञानी के और भी सब व्यवहार आत्मा से ही होने लगते हैं–***प्राक् सदात्मविज्ञानात् स्वात्मन: अन्यस्मात् सत: प्राणादे: नामान्तस्योत्पत्तिप्रलयावभूताम्। सदात्मविज्ञाने तु सति इदानीं स्वात्मत एव संवृत्तौ। तथा सर्वोऽप्यन्यो व्यवहार: आत्मन एव विदुष:'*** (छा. भा. ७.२६.१)। **(२८.५)**

❊❊❊